मेरे जीवन : मेरे प्राण

मूल लेखक
श्री फाल्गुनी मुखोपाध्याय

अनुवादक
श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री एम० ए०

१९५७
राष्ट्रीय-प्रकाशन-मन्दिर
अमीनाबाद, लखनऊ

प्रकाशक

रविशंकर दीक्षित

राष्ट्रीय-प्रकाशन-मन्दिर

अमीनाबाद, लखनऊ

प्रथम संस्करण १६५७

मूल्य

पाँच रुपये

मुद्रक

बजरंगबली 'विशारद'

श्री सीताराम प्रेस,

जालिपादेवी, वाराणसी।

प्रारम्भिकी

बात सन् '५२ की है। उन दिनों कानपुर से प्रकाशित 'सुमित्रा' का सम्पादन करता था। सोचा था कि वर्ष में कम से कम उच्च कोटि के तीन या चार उपन्यास सुमित्रा द्वारा पाठकों के पास भेजे जायँ। इसी दृष्टि से उपन्यासों का चुनाव किया गया था। पाँचवें उपन्यास 'तुहू मम जीवन' का प्रकाशन आरम्भ किया गया कि अचानक सुमित्रा को स्थगित कर देना पड़ा। 'तुहू मम जीवन' तभी से मेरे पास पड़ा हुआ था और मैं इस विचार में था कि किसी प्रकार यह उपन्यास हिन्दी-पाठकों तक पहुँचे।

उपन्यास कैसा हो, इस सम्बन्ध में मेरा एक दृष्टिकोण रहा है। मैं उपन्यास को मानव-जीवन के विकास-क्रम का एक मनोवैज्ञानिक इतिहास मानता हूँ जिसमें मानव की कल्पना व्यावहारिक जीवन में उथल-पुथल करती तथा मनुष्य के जीवन में उतार-चढ़ाव ले आती है। मनुष्य के जीवन में ज्ञात एवं अज्ञात कितने ही ऐसे संघर्ष होते हैं जो उसकी भावना का निर्माण करते हैं। भावना का निश्चेतन, अर्धचेतन तथा चेतन मन में समावेश होता रहता है। जब चेतन मन में कोई भावना पैठ जाती है तब उसके द्वारा व्यावहारिक जीवन में वह क्रिया का रूप धारण करती है, पर जब तक उसका समावेश चेतन मन में नहीं होता तब तक वह अर्धचेतन मन में निवास करती है या निश्चेतन मन के अन्तराल में चली जाती है। वहाँ वह उपयुक्त घटनाओं का, स्थितियों की तथा वातावरण की प्रतीक्षा करती है। जैसे ही उसे अवसर मिलता है वह निश्चेतन मन से वेग के साथ कभी अर्धचेतन में आकर द्वंद्व की सृष्टि करती है, कभी चेतन मन पर ही अधिकार जमा लेती है और मनुष्य बहुत से करणीय-अकरणीय कार्यों में अपने आपको डाल देता है। यहाँ

तक कि वह ऐसे-ऐसे काम तक कर डालता है जो उसकी काबू—शक्ति—से बाहर होते हैं।

ऐसे सभी अवसर मानव-जीवन के लिए बड़े महत्वपूर्ण होते हैं, मानव का उत्थान या पतन ऐसे ही अवसरों की स्थिति पर निर्भर रहता है। ऐसे ही अवसरों के लिए मानव को अपनी बुद्धि सजग रखनी पड़ती है। और इस प्रकार की सजग बुद्धि का निर्माण करने में साहित्य—विशेषकर उपन्यास, अधिक सहायक होते हैं।

मानव का उत्थान और पतन किन किन अवस्थाओं में, किन किन कार्यों द्वारा होना संभव होता है, उपन्यास में इनका चित्रण रहता है; इन्हीं चित्रों की स्मृति से मनुष्य अपने को जाग्रत रखकर भाव-जगत से प्रभावित होने न होने में सहायता लेता है।

आज साहित्य-निर्माण के सम्बन्ध में उपन्यास या साहित्य-लेखकों के अनेक मत पाये जा रहे हैं। अनेक लेखक एकमात्र स्थूलवादी हैं, चर्म-चक्षुओं से जो दिखाई देता है, वे उसी को सत्य मानते हैं और उसी को रचना में स्थान देते हैं। वही है उनका सत्य जगत। और उसी तक उनकी वास्तविकवाद की सीमा है। किन्तु कुछ केवल आदर्शवादिता पर निर्भर रहते हैं और व्यावहारिक जगत से आँखें बन्द करके उसे साहित्य में लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लेखकों में व्यवहार के साथ-साथ आदर्श को मिलाकर मानव को ऊपर उठाने की प्रेरणा रहती है।

असल में विचार किया जाय तो पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि मनुष्य के जीवन का एक ध्येय है। वह निरा पशु नहीं है, जो खाने-पीने या मौज के लिए उत्पन्न हुआ हो। शारीरिक विकास के रूप में वह अपनी चेतना के साथ उस अवस्था में आ चुका है जहाँ उसे अपनी चेतना का अधिकाधिक चेतनात्मक रूप में विकास करना है। हिन्दुओं की चौरासी लाख योनियाँ स्थूल विकास की भौतिक और प्राणिक अवस्थाएँ हैं जिनमें होकर चेतन को जड़ता के पाश से मुक्त होना होता

है। जब जीव जड़ता के पाश से मुक्त होता हुआ धीरे-धीरे चेतना के विकास की सन्धि-रेखा पर आता है तब उसे मिलता है मानव देह। यहाँ वह प्रकृति का गुलाम नहीं रहता। बल्कि उसमें उस शक्ति का उदय हो जाता है जिससे वह प्रकृति के बन्धनों को तोड़-फोड़कर आजादी की साँस ले सकता है और चेतना के चमत्कारों का स्वयं न सिर्फ अनुभव कर सकता है, बल्कि उसके द्वारा इस प्रकृति को भी अपने इच्छानुसार संचालित एवं परिवर्तित कर सकता है।

मानव-विकास में इतनी महत्वपूर्ण शक्ति का उदय हो जाने पर भी मानव अधिकांश निम्नतम योनियों के संस्कारों से जकड़ा रहता है। बौद्धिक विकास होने पर भी संस्कारजनित भावना की छाया मानव पर पड़ी रहती है और उसी की तरंगों पर मानव प्रवाहित होता रहता है, बुद्धि जड़ता-पाश से मुक्त होकर जैसे-जैसे जाग्रत होती है, मनुष्य को इन निम्नतम संस्कारों तथा उनकी भावनाओं से मुक्त करती जाती है। इस मुक्ति के तारतम्य द्वारा ही मनुष्य का चेतनात्मक विकास संभव होता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि ऐसे कितने ही प्राणिक विकार हैं जो मनुष्य के साथ चिमटे हुए हैं। ये जैसे-जैसे अपने प्राणिक रूप को छोड़ते जाते हैं वैसे ही इनमें प्रकाश की वृद्धि होती जाती है और सीमा के भौतिक आवरण को छोड़कर इनमें दिव्यता का विकास होता जाता है। दिव्यता का सम्पूर्ण विकास ही मानव चेतना के विकास का लक्ष्य है। समत्व और एकत्व की अनुभूति तक ही नहीं, बल्कि जब चेतना क्रियाशीलता तक उतर आती है तब उसे मिलती है मुक्ति—जड़ सीमा के बन्धन से।

भारतीय संस्कृति में जिसे स्वराज्य और स्वतन्त्रता कहा जाता है, उस 'स्व' के साथ इसी दिव्यता का सम्बन्ध है। उसमें फिर तंत्र नाम की किसी सत्ता की अपेक्षा नहीं रहती। फिर वह स्वचालित मशीन की तरह 'स्व-भाव' बनकर काम करने लगती है। उसी 'स्व-भाव' का जागरण

मानव की सबसे बड़ी साधना है। और उसी के लिए मानव-व्यवहार का सदुपयोग। मेरी मान्यता के अनुसार साहित्य में इसका दर्शन होना आवश्यक है।

किन्तु इसके विपरीत यथार्थवाद और व्यवहारवाद के नाम पर भोगवाद को प्रश्रय देते हुए साहित्य-निर्माण की नवीन परम्परा का भारत में उदय हुआ है। जिस प्रकार नारी अपने विभिन्न अंग-विक्षेपों द्वारा मानव की भोगात्मक भावना को प्रबल बनाती और उसे काम की ओर आकर्षित करती है उसी प्रकार नारीजनित भावनाएँ भी अपने अनेक कामात्मक रूप धारण करके मनुष्य की चेतनात्मक प्रगति में अन्तराय का काम करती है। भारत के प्राचीन साधकों ने इसी दृष्टि के कारण नारी का सर्वतोभावेन विरोध किया। वैदिक और पौराणिक साहित्य को छोड़कर अन्यत्र नारी के विरोध की धूम पाई जाती है। वैदिक और मूल पौराणिक साहित्य में नारी को विकास का साधन ही नहीं माना, बल्कि उसे पूर्णता की कुंजी के रूप में भी स्वीकार किया है। नारी के अन्दर उसके भोगात्मक रूप का विकास करने की अपेक्षा उसके निर्माणात्मक रूप के विकास की ओर ध्यान देकर मनुष्य को विभिन्न रपटनों से बचाने के लिए नीति के नियमों का निर्माण किया गया। स्वयं नारी को भी भोगमूलक बनने से बचाने के लिए उसमें ज्ञान की दिव्य छटा प्रकट करने का प्रयत्न हुआ।

वैदिक काल के साहित्य में नारी के इस दिव्य रूप के अनेक स्थलों पर दर्शन मिलते हैं, पौराणिक काल में भी नारी ने अपनी मर्यादा को कायम रखा है किन्तु परवर्ती साहित्य के बीच की कड़ी टूट जाने से साहित्य किस दिशा में क्यों बह चला, इसका पता लगाना आसान नहीं है।

रीतिकाल के साहित्य में नारी के भोगायतन होने की भावना का ही प्राबल्य है। और उस भावना ने मानव में निम्नतम संस्कारों को अनेक विकारों के रूप में उसके विकास को रोकने के लिए लाकरखड़ा

कर दिया है। मध्यकालीन इतिहास में जितने भी विग्रहों का उदाहरण मिलता है, नारी उसकी आधार-भूमि बनी हुई बराबर दिखलाई देती है। मानव में बुद्धि ने उदय होकर उसकी भोगमूलक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही उसके मन और प्राण को मदद दी है। और मध्य-कालीन साहित्य ने इस दिशा में उसे बराबर अपना योगदान दिया है। यही कारण है कि मध्यकाल से लेकर कुछ समय पूर्व तक या तो नारी को घृणा की दृष्टि से देखा गया या भोग के लिए उसका उपयोग किया गया। साहित्य में नारी के सौंदर्यमूलक—भौतिक गठनात्मक रूप का इतना अधिक वर्णन हुआ कि चेतना प्राण के ही चारों ओर चक्कर काटने लगी। मध्य युग की इस भावना ने विदेशों की छाया में आज मनोवैज्ञानिक रूप धारण कर यथार्थवादी जामा पहिना है और वह आज के साहित्य में यत्र तत्र दिखाई देती है।

नारी के इस रूप का साहित्य में अवतरण मैंने मानव-विकास के लिए हानिकारक माना है। मध्यकालीन इतिहास में इसके अनेक तथ्य मिलेंगे। मेरी मान्यता के अनुसार साहित्यकार की दृष्टि ऐसे ही स्थलों पर जाकर सामग्री संकलन करने की होनी चाहिए, क्योंकि ये ही वे मोड़ या रपटन हैं जिनसे यदि मानव-प्रगति को सावधान करते हुए आगे ले चला जाय तो मानव के अन्तस्तल में दिव्यता का स्थायी जागरण होता हुआ दिखाई देने लग सकता है।

अपने इस दृष्टिकोण के कारण मैंने उन्हीं उपन्यासों को सुमित्रा के लिए चुना था जो मानव की भोगात्मक भावना—वासना को विशुद्ध करते हुए, नारी को भोगमूलक नहीं—प्रेममूलक, त्याग और बलिदान की देवी के रूप में स्वीकार कर मानव उससे ज्योति, शक्ति और आनन्द की प्राप्ति करे। न कि मोह, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारों को सजग करने में उसका योग पाए।

श्री फाल्गुनी मुखोपाध्याय के 'तुहू मम जीवन में' मुझे नारी के इस

रूप के दर्शन हुए। इसलिए जैसे ही भाई श्रीपृथ्वीनाथजी शास्त्री एम० ए० ने अपना यह अनुवाद मुझे दिया, मुझे भारी प्रसन्नता हुई। हिन्दी में इस प्रकार की विचारसारिणी के विस्तार का मैं सदैव ही इच्छुक रहा हूँ। जिससे विभिन्न भाषाभाषियों की कल्पना और भावना के द्वारा मानव चेतनात्मक विकास में अपना पथ-निर्देशन प्राप्त कर सके।

भाषा पर किसी व्यक्ति विशेष या जाति विशेष का अधिकार नहीं है। स्वयं साहित्यकार भी किसी वर्ग विशेष का नहीं होता। न उसकी कोई जाति होती है, और न उसका कोई देश। समग्र वसुन्धरा ही उसकी अपनी होती है और मानवमात्र उसके अपने अंग। उन सभी अंगों को एकसूत्रता देकर वह अपनी बौद्धिक प्रतिभा के द्वारा चेतनात्मक विकास को प्रेरणा देता है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के प्रेरणामूलक साहित्य की अभी कमी है। तब यदि किसी भाषा से उसे हिन्दी-पाठकों के लिए ले लिया जाय तो वह एक प्रकार से मानव के चेतनात्मक विकास को गति देना ही माना जायगा। बंगला भाषा की इस मूल कृति को हिन्दी में देकर श्रीपृथ्वीनाथजी ने अपनी विद्या-बुद्धि को ऋषि-ऋण से मुक्त होने के साधन रूप में लगाकर अपने को धन्य बनाया है।

पुस्तक का अनुवाद कैसा हुआ है, यह पाठक स्वयं पढ़कर निर्णय कर सकते हैं। मूल पुस्तक के पढ़ने में जितना रस मिल सकता है, अनुवाद में पाठक को उतना रस तो मिलेगा ही, इसका मैं उसे विश्वास दिलाता हूँ।

५, लोअर चितपुर रोड
कलकत्ता १

विट्ठल शर्मा चतुर्वेदी

मेरे जीवन : मेरे प्राण

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समान धर्मा।
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ —भवभूति

१

सिप्रा चट्टोपाध्याय—

अर्थात् मिस् चटर्जी। चमत्कारपूर्ण नाम है न? उसके चारों ओर कम से कम आधे दर्जन चापलूस गुञ्जन करते हैं—फूल के चारों ओर जैसे मधुकर कहने से सुन्दर उपमा नहीं होती, दीप के चारों ओर पतंग कहने से कुछ अत्युक्ति-सी लगती है। शायद अब भी ठीक नहीं, किन्तु ढूँढ़ने से भी दूसरी नहीं मिलती। मिस् चटर्जी एक सुन्दर सुलायम कोच पर बैठी हैं देह-लता बाँकी भङ्गिमा से बिखरी-सी पड़ रही है। इसमें कुछ भी कष्ट होता है यह आप किसी तरह नहीं समझ सकते किन्तु यदि आप इस प्रकार पाँच मिनट भी बैठे रहें तो आपकी पीठ रह जाय और कमर दुखने लगे। जानते नहीं मिस् चटर्जी इस भङ्गिमा से बैठने का अभ्यास तेईस वर्ष से कर रही हैं।

आस-पास सामने-पीछे पाँच-छः प्रशंसक कितनी ही बातें कह रहे हैं कितने मधुर विशेषण!

अरुण गुह बोला—यह कविता क्या है कमाल है।

तरुण राय ने कहा—वण्डरफुल! सुन्दर

मनोजचन्द्र ने कहा—'नो नो हैवन्ली।' (नहीं-नहीं, यह तो दिव्य है)

मिस चटर्जी बोलीं—अच्छा कहिए तो, कहाँ भेज दिया जाय इसे ?

तरुण राय कुछ कुछ विशेषज्ञ बनते थे बोले, 'प्रवासी' में।

अरुण गुह ने कहा—लेगा नहीं, उन लोगों का कुछ दूसरा ढंग है।

तरुण—तो 'भारत-सखा' में।

मनोज—रविश् जो मिलता है वही छापता है।

तरुण—अच्छा उपीन भाई का 'विचित्रता' तो अभी निकल रहा है।

सिप्रा—किन्तु क्या और कोई अच्छा पत्र नहीं निकलता ?

तरुण राय उत्साह से बोले, एक बहुत सुन्दर पत्र पार्थ मुखर्जी इसी वैशाख से निकाल रहे हैं—उसी में दीजिए।

सिप्रा—क्या पता है ? एक प्रति खरीद लाइए न !

तरुण उसी समय उठा। सिप्रा ने नौकर को चाय का हुक्म दिया।

'वैजयन्ती' लेकर तरुण लौटा। बहुत सुन्दर पत्र था। समस्त रचनाएँ युवकों की थीं। किन्तु सचमुच अच्छी कृतियाँ थीं। संपादन प्रशंसनीय।—अच्छा इसी में भेज दी जाय। कौन दे आवेगा यह कविता मि० राय ?

'ना ना मेरे साथ उसका झगड़ा है अर्थात् संपादक के साथ।'

'आप इतना झगड़ा क्यों करते हैं मि० राय ? अच्छा तो मि० गुह आप जाइए।'

'मैं इस विषय में कुछ जानता नहीं, फिर भी हरकारे का काम किए देता हूँ।'

कविता लेकर अरुण बाहर चला गया। तरुण ने सोचा, उसके ऊपर नाराज तो नहीं हो गई? जाना ही ठीक रहता। मनोज ने सोचा, दो एक मासिक-पत्र पढ़े बिना काम नहीं चलेगा, सम्पादकों के साथ जान-पहिचान भी करनी पड़ेगी। सिप्रा ने सोचा—पार्थ। नाम तो अच्छा है। कैसा आदमी है?

समर चौधरी घुस आया—कहो भाई, आप लोगों की काव्य-चर्चा कहाँ तक आगे बढ़ी?—कहकर बैठ गया।

तरुण ने कहा—आगे नहीं, पीछे पड़ रही है!

माने—? कहकर समर चौधरी ने देखा।

'माने सिर्फ कविता लिखने से ही काम नहीं चलता, छापने के लिये तो जगह चाहिए, समझे?'

'तुम क्या कहते हो, आजकाल तो घास-फूस के समान पत्रिकाएँ निकलती हैं क्या वे 'सहारा' का रेगिस्तान बन गईं—कविता के लिये स्थान नहीं।'

'है, किन्तु कविता के लिये नहीं। कविता कितने सम्पादक समझते हैं? केवल पन्ने भर देते हैं।'

'क्या कहते हो,तब तो बनाना न सीखकर ही अच्छा किया।'

'सो ठीक है। क्या पार्थ मुखर्जी को जानते हो?'

'अरे भाई 'पार्थ' 'अर्जुन' 'धनञ्जय' 'धृष्टद्युम्न' ये सब आ गये। क्या 'कुरुक्षेत्र' तो नहीं होगा?'

जब तुम 'समर' आगये तो—सिप्रा ने कहा—क्या बेकार बक रहे हैं। पार्थ मुखर्जी से आप परिचित हैं? वैजयन्ती के सम्पादक हैं—सिप्रा ने 'वैजयन्ती' को उसकी ओर सरका दिया।

'नहीं मिस चटर्जी, कहें तो परिचय कर आऊँ!'

ठहरिए अभी, देखें अरुण बाबू क्या खबर लाते हैं, काम न हुआ तो, फिर आपकी बारी है। सिप्रा ने कहा।

समर बोला—कविता लिखने से क्या होता है मिस् चटर्जी ? यह तो आलसियों का काम है।

सिप्रा ने आँखों में बिजली चमकाकर कहा—तो मैं भी आलसी हूँ ?

'नहीं नहीं, आपने तो अभी शुरू किया है, अभी आलसी कैसे हो जायँगी।'

होती तो अच्छा रहता—कहकर सिप्रा उठ खड़ी हुई। उसकी अधीरता बढ़ रही थी।

पियानो के पास जाकर सिप्रा ने कुछ स्वर बजाये फिर जंजीर से बँधे अपने कुत्ते को छेड़ा; उसके बाद—अरुण लौटकर आगया, मुख पर विषाद की छाया थी।

क्या हुआ अरुण बाबू—सिप्रा ने पूछा।

नहीं, यह कविता वह नहीं छापेगा—अरुण ने कहा।

'क्यों ?'

'सब सुनने से आप बेहोश हो जायँगी मिस् चटर्जी।'

'वाह, आप कहिए भी तो।'

उसने कहा, 'कविता तो दूर की बात है—यह तुकबन्दी भी नहीं,—नहीं छपेगी!' सिप्रा ने गुस्से से ओठ काट लिया, मुद्रा देखकर सभी स्तब्ध हो गये। पाँच मिनट सब चुप रहे, साँझ घनी होती जा रही थी। नौकर कमरे की बिजली जला गया। सिप्रा ने जैसे चेतना पाई। मित्रों की ओर देखकर कहा—अच्छा, मैं जरा बाहर जा रही हूँ, आप लोग बैठिए। सिप्रा ने 'वैजयन्ती' कार्यालय का पता पूछ लिया। वह कपड़े बदलने चली गई। मित्रगण भी उसकी मुद्रा देखकर धीरे-धीरे बाहर चले गये।

आध घण्टा बाद सिप्रा मोटर में आकर बैठ गई। रूप-छटा से मानो गाड़ी का अंधकार नष्ट हो रहा था; सान्ध्य जगत् की

उदासी चूर-चूर हुई जा रही थी। सिप्रा ने ड्राइवर को पता बता दिया; गाड़ी चल पड़ी—सभी चुपचाप। कालिज् स्ट्रीट में छोटी-सी एक गली है, गाड़ी जाती है, किन्तु मुड़ती नहीं। सामने ही एकतल्ला मकान पर साइनबोर्ड लगा था 'वैजयन्ती—श्रेष्ठ मासिक-पत्र'। सिप्रा ने ड्राइवर से दरवाजा खोलने को कहा, लेकिन स्वयं ही दरवाजा खोलकर उतर पड़ी। द्वार की किवाड़ें भिड़ी थीं। वह एक सेकण्ड खड़ी रही। भीतर हरीकेन की रोशनी हो रही थी; जँगले में से उसकी म्लान शीर्ण ज्योति दीख पड़ती थी। सिप्रा ने धक्का दिया। कमरे में सारे फर्श पर एक मोटी चटाई बिछी थी, उसी पर इधर-उधर किताबों और मासिकपत्रों के ढेर लगे थे, और वहीं पीछे की ओर मुँह किए एक व्यक्ति बहुत से कागजों में कुछ कर रहा था। न मेज थी, न कुर्सी। कमरे में बस कागजी टुकड़ों की ही सजावट थी। एक मिट्टी की तश्तरी में मिट्टी की तीन दावातें रखी थीं और एक दर्जन होल्डर। वह व्यक्ति उन्हीं में से एक को दावात में डुबोता और कुछ लिखता जाता था। सिप्रा ने एक क्षण में यह सब देख लिया। इस गंदे नरक-कुण्ड से सिप्रा लौट जाय क्या ?' नहीं, सिप्रा ने जूते की ठोकर से आवाज की। लिखते हुए व्यक्ति ने बिना मुँह फिराये ही कहा—क्या खबर लाये प्रवीर ? सिप्रा समझ गई कि प्रवीर नामक किसी व्यक्ति का इन्तिजार था। जल्दी से उसने कहा, नमस्कार। उस व्यक्ति ने इस बार उसकी ओर मुँह फिराया और चकित होकर देखा। वह अपने को सँभालकर झट उठ पड़ा। सिप्रा से नमस्कार कर बोला, कहाँ बैठाऊँ आपको, यह कमरा तो आपके लायक नहीं ! सिप्रा ने बेतकल्लुफी से कहा—ठीक है, बैठिए, कहकर वह स्वयं ही उसी गन्दे फर्श पर बैठ गई। सिप्रा ने जीवन में ऐसा कभी नहीं किया था !

पार्थ ने कुछ दबी हँसी के साथ कहा—दो एक कुर्सियाँ रखना अच्छा है, किन्तु पैसा नहीं है। अच्छा, कहिए कैसे कष्ट किया ?

सिप्रा बोली—बैठिए तब कहूँगी। सिप्रा की ओर पूर्णतया मुँह न कर पार्थ कुछ दूर ही पर बैठ गया। सिप्रा ने उसकी ओर देखा। युवक सुन्दर, गौराङ्ग और तेजस्वी था। उम्र पचीस के करीब होगी, सिप्रा ने अन्दाज लगाया। मुख का सौन्दर्य केरोसिन के प्रकाश में भी झलका पड़ रहा था। फटी बनियाइन में से शरीर का दक्षिण भाग दिखाई पड़ता था। शरीर पर बनियाइन, वह भी फटी, फिर भी युवक इतना सुन्दर दिखाई पड़ा कि सिप्रा देखती ही रह गई। पार्थ ने कुछ देर बाद उसकी ओर देखा और आँखें मिलते ही विनम्र भाव से आँखें नीची कर कहा, अपनी बात कहिए, देवि !

सिप्रा चौंक पड़ी। किसी युवक के मुँह से उसने 'देवी' का सम्बोधन कभी नहीं सुना था। यह सम्बोधन इतना मधुर हो सकता है यह सिप्रा के लिये कल्पनातीत था। थोड़ा सँभलकर सिप्रा बोली—मैं नवयुग के श्रेष्ठ-कवि, साहित्यिक मि० मुखर्जी का अभिनन्दन करने के लिये आई हूँ।

विनीत हास्य के साथ पार्थ बोला—मेरा नाम श्री० पार्थ मुखोपाध्याय है, मिस्टर नहीं। कृपा करके पार्थ बाबू कहिए, यदि पूरा बोलने में आपको कष्ट हो तो।

जिसका अभिनन्दन करने के लिये आई थी उसकी पहली ही बात में आपत्ति सुनकर सिप्रा बहुत अप्रतिभ-सी हो गई। किन्तु वह लजीली नहीं थी, सिप्रा बोली—भूल हुई, क्षमा करिए; मैं आपको श्रीयुत पार्थ मुखोपाध्याय कहूँगी।

बहुत अच्छा—पार्थ ने हँसकर कहा—इतना यदि बोल सकें—किन्तु मैं आपका क्या उपकार कर सकता हूँ ?

'मैं कभी-कभी कविता लिखने की चेष्टा करती हूँ।'

'बड़ी अच्छी बात है, यह तो आनन्द की बात है।'

'किन्तु आप लोग तो छापते ही नहीं, इसका क्या कारण है?'

'क्यों नहीं छापूँगा; कविता यदि अच्छी हो, ठीक कविता हो। प्रकाशनार्थ ही तो पत्र निकाला है।'

'किन्तु अच्छी कविता क्या एकाएक बन जाती है? पहले नवीन लेखकों के उत्साह के लिये, क्या आपको कुछ सहानुभूति करना उचित नहीं? वे कुछ लिखकर अभ्यास तो कर लें।'

'सहानुभूति तो हमेशा है देवि, किन्तु अभ्यास करना आन्तरिक कार्य है। युद्ध में जाने से पहिले सैनिकों को किले में ही तैयार किया जाता है, अन्यथा वे हार जाते हैं।'

सिप्रा का जोश ठण्ढा पड़ गया। थोड़ा सोचकर कहा—कभी-कभी यदि नवीन लेखिकाओं की कविता न छापी जाय तो वे हिम्मत हार जाती हैं।

'तब कहिए क्या किया जाय? यह सत्य है कि जिनमें भगवान् ने कवित्व-शक्ति दी है, वे कभी लिखना नहीं छोड़ सकते। इससे बढ़कर कवि या लेखक की और कोई पहिचान नहीं। किसी के प्रकाशित न करने पर भी कवि 'स्वान्तः सुखाय' लिखेंगे ही और एक दिन उनकी लेखनी अवश्य ही विजय प्राप्त करेगी। आपमें यदि वास्तव में कवित्व की प्रतिभा है तो वह छपने न छपने की अपेक्षा नहीं करेगी। तब भी यह कहे देता हूँ, यदि आपकी कविता अच्छी है अर्थात् मेरे पत्र के योग्य है तो मैं अवश्य ही प्रकाशित कर दूँगा।

सिप्रा ने कम्पित कर से हैण्डबेग में से कविता निकालकर दी।

पार्थ ने उसे खोलकर पढ़ना शुरू कर दिया। कमरा बहुत गरम था। सिप्रा को पसीना आ गया। उस ओर कोने में एक

पंखा पड़ा था, किन्तु सिप्रा उठी नहीं, वह ध्यान से देखने लगी कि उसकी कविता पढ़ते-पढ़ते पार्थ के मुख का भाव किस प्रकार बदल रहा है।

तीन चार मिनट बाद पार्थ ने सिप्रा की ओर देखा। तत्क्षण आँखें नीची कर लीं।

सिप्रा ने कहा—कैसी है ? उसके कण्ठ में असीम विनय था और आँखों में नारीत्व का लीला-पूर्ण मायाञ्जन !

'यह कविता मैंने सन्ध्या समय देखी थी, इस सम्बन्ध में अपना विचार भी बताया था।'

'वह विचार क्या बदला नहीं जा सकता, श्रीयुत मुखोपाध्याय ?

'नहीं, यह कविता मेरे पत्र के लिये ठीक नहीं। मैं आपको दुःखी नहीं करना चाहता किन्तु इस प्रकार की कविता लिखने से आप कभी न लिख सकेंगी, यह श्रम व्यर्थ है।'

'तो कैसे लिखना चाहिए ? सिप्रा ने पूछा।'

'काव्य-निर्माण सिखाया नहीं जाता देवि, वह कवि की जन्मजात प्रतिभा है। फिर भी छन्द, तुक, यति इत्यादि सीखा जाता है—उसके लिये पढ़ना होगा।'

'अच्छा आप क्या मुझे सिखाने के लिये राजी हैं ? हाँ, आपकी हानि न हो, इसका मैं पूर्ण ध्यान रखूँगी।'

मुझसे यह न हो सकेगा—कहकर पार्थ पंखा ले आया और खड़ा होकर हवा करने लगा।

क्यों असम्भव है ? सिप्रा ने पूछा।

'पत्र-प्रकाशन से मुझे बहुत कम समय मिलता है, जितना रहता है उसमें पढ़ता-लिखता हूँ। विद्या देकर पैसा लेने की मेरी इच्छा नहीं।'

'अच्छा पैसा न लीजिएगा, 'धन्यवाद' तो लीजिएगा ?'

सिप्रा ने पार्थ की ओर देखा, उसकी आँखों में उर्वशी का अनिर्वचनीय अनुरोध था।

'मैं यह न कर सकूँगा देवि, क्षमा करिए।'

सिप्रा विमूढ़ हो गई। नीची निगाह किए वह चटाई पर बैठी रही और पार्थ ताड़ के पङ्खे से हवा करता रहा। प्रायः पाँच मिनट बाद सिप्रा अकस्मात् बोली, 'अच्छा कहिए तो आपका कमरा इतना गन्दा क्यों है ?'

पार्थ युवती में परिस्थिति बदलने की क्षमता देखकर चकित हो गया। हँसकर बोला—उससे मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इसके अतिरिक्त क्या करूँ कहिए, नौकर-चाकर तो रख नहीं पाता। जो साफ करता है कुछ दिन से उसे बुखार आ गया है। बाहर दरवाजे के पास कोई व्यक्ति झाँककर हट गया। पार्थ ने उस ओर ताककर देखा और कहा—कौन प्रवीर ? अन्दर आओ ये हमारी अतिथि हैं।

एक सौम्य सुन्दर युवक अन्दर घुसा। उसने दोनों हाथ जोड़कर सिप्रा को नमस्कार किया। सिप्रा ने भी जवाब दिया। पार्थ ने प्रवीर की ओर संकेत कर कहा—ये प्रवीर वन्द्योपाध्याय हैं—मेरे एक मात्र मित्र और सहयोगी।

प्रवीर से कहा—क्या हुआ प्रवीर ?

'गुड ईयर' का विज्ञापन मिल गया भाई, एक साल की चुकती भी, यह लो रसीद।

फाइल में रखो—कहकर पार्थ और भी जोर से हवा करने लगा। सिप्रा ने इसी बीच नवागन्तुक की ओर देखा। आयु में पार्थ की अपेक्षा थोड़ा बड़ा ही होगा। चेहरा 'क्लीन शेव' गौर-वर्ण लम्बा-चौड़ा जवान अत्यन्त सुन्दर भाव-भङ्गिमा। वास्तव में

वह पार्थ के अनुरूप बन्धु था। फाइल में रसीद रखकर प्रवीर ने सिप्रा की ओर देखा। दोनों की आँखें मिलीं, सिप्रा ने मुख नीचा कर लिया किन्तु प्रवीर उस ओर देखता रह गया। थोड़ी देर बाद बोला—ये क्या कह रही हैं पार्थ, क्या सुन सकता हूँ ?

'आप लेखिका हैं कविता देने आई हैं।'

देखूँ कविता—कहकर प्रवीर आगे आया। कविता उस समय भी खुली अवस्था में पार्थ द्वारा लिखित कागजों पर पड़ी थी। प्रवीर ने उठाकर पढ़ा।

'यह तो वही है जो शाम को एक सज्जन लाये थे।'

हाँ—पार्थ ने कोमल, स्वर में कहा। इतनी देर बाद सिप्रा ने करुण, विनम्र स्वर में कहा—देखिए प्रवीर बाबू, ये इस कविता को किसी प्रकार भी नहीं छापना चाहते।

प्रवीर चुप रहा। सिप्रा समझ गई; यहाँ प्रवीर की वीरता नहीं चलेगी। उसने पार्थ की ओर मुख करके कहा, 'आप कविता छाप दीजिए, उसमें जो खर्च होगा, मैं दूँगी—'इतनी विनती आप मान लीजिए।' पार्थ विस्मय से आहत हो उठा। उसका मुख क्रमशः लाल हो गया; बोला—उसका क्या खर्च देंगी आप ? एक-एक करके कविता अलग तो नहीं छपती।

'अच्छा, तो मैं आपके पत्र का इस मास के प्रकाशन का समस्त व्यय दूँगी।'

क्रोध से पार्थ का मुँह लाल हो गया, लालटेन के धुँधले प्रकाश में उसे दिखाई नहीं दिया, बोला, आपसे मैं यह कैसे ले सकता हूँ देवि। मैं सरस्वती के पूजा-मन्दिर में निष्ठावान् पुजारी बनना चाहता हूँ, मैं यहाँ अयोग्य को स्थान नहीं दे सकता। आपके पास यदि रुपया है तो खुशी से दस किताबें छापकर लोगों को

बाँट दीजिए, कोई भी नहीं रोकेगा। मेरे मन्दिर में योग्य पुजारी ही पूजा कर सकेगा।

पार्थ के तेजस्वी कण्ठस्वर से सिप्रा एक साथ पराजित हो गई। थोड़ा समय ऐसे ही कट गया। प्रवीर निःशब्द बैठा हुआ एक मासिक-पत्र के पन्ने उलटता रहा।

देखिए तो प्रवीर बाबू—सिप्रा ने कहा—तब तो हम लोग कभी योग्य न हो सकेंगे।

चेष्टा करिए, निश्चय ही आप योग्य होंगी सिप्रा देवि, किन्तु मन्दिर में घुसने से पहिले पूजा का मन्त्र सीखना पड़ेगा—पार्थ ने विनीत स्वर से कहा।

'अच्छा, मुझे मन्त्र सिखाने के लिये उपयुक्त गुरु बता दीजिए, मैं सीखूँगी। बना दीजिए अपने इन प्रवीर बाबू को ही मेरा गुरु, इनको तो समय मिल सकता है!'

'यह प्रवीर की इच्छा पर निर्भर करता है। मेरा मत तो यही है कि कोई सीख-पढ़कर कवि या लेखक नहीं बन सकता; यह तो जन्मजात प्रतिभा होती है। अच्छी बात है, आप आज से एक हजार कविता लिखिए; उसके बाद मुझे दिखाइए—मैं समझ लूँगा कि आपमें कितनी शक्ति है।'

'एक हजार! तब तो दो तीन वर्ष से कम नहीं लगेंगे महाशय!'

'यदि वास्तव में आपमें कवित्व-शक्ति है तो छः महीने भी नहीं लगेंगे, और यदि नहीं है तो विरक्त होकर आप लिखने-पढ़ने की चेष्टा ही छोड़ देंगी।

किन्तु मुझे छन्द, यति आदि सिखाने के लिये क्या प्रवीर बाबू कृपा करेंगे?

इतनी देर बाद प्रवीर बोला—मुझे कोई आपत्ति नहीं देखि, किन्तु पार्थ की सम्मति आवश्यक है।

'पार्थ सम्मति किसी दिन नहीं देगा प्रवीर, किन्तु तुम्हारी यदि इच्छा हो तो जा सकते हो; हाँ, मेरा साथ त्यागकर !'

अत्यन्त चकित होकर सिप्रा और प्रवीर दोनों ने पार्थ के मुँह की ओर देखा। पार्थ अब और भी जोर से हवा कर रहा था। उसका मुँह दूसरी ओर था, सब निस्तब्ध थे। दीर्घ श्वास लेकर पार्थ ने बुलाया—प्रवीर—कहो—।

'जिनके जीवन में भावी युग-गंगा की कलकल ध्वनि हो, वे भी क्या अब मोह में पड़ेंगे। व्यर्थ होने देंगे अपनी रचना-शक्ति मरु-भूमि में खेती शुरू कर !'

'नहीं भाई मुझसे गलती हुई।'

'इस बात का क्या अभिप्राय है श्रीयुत् मुखोपाध्याय ? सिप्रा ने करुण-कण्ठ किन्तु तीव्रस्वर से पूछा।'

'अपने सहयोगी की इस दुर्बलता को मैं क्षमा नहीं कर सकता देवि ! प्रवीर तुम कल से यहाँ न आना, विज्ञापन का कमीशन महीने के अन्त में ले जाना।'

एक क्षण में प्रवीर के दोनों नेत्र मलिन हो गये। वह उठ खड़ा हुआ और पार्थ के पास आकर बोला—क्या इतना निष्ठुर हो सकता है पार्थ ! मैंने तो तेरी राय के बिना जाना नहीं चाहा भाई ! मैं समझ गया हूँ अपनी भूल ! मुझे क्षमा करो मित्र !

अच्छा, तुम्हें एक और अवसर दिया—कहकर पार्थ ने पंखा प्रवीर के हाथ में दे दिया।

सिप्रा ने हाथ की घड़ी में देखा कि साढ़े नौ बज चुके थे, कहा—अच्छा, मैं अब जाती हूँ, नमस्कार ! उन दोनों ने सिप्रा

को नमस्कार किया। धीरे-धीरे सिप्रा गाड़ी में जा बैठी। ड्राइवर ने सविनय पूछा, कहाँ जायँगे हुजूर!

तिक्त कण्ठ से सिप्रा ने कहा—जहन्नुम"'। सहमकर ड्राइवर ने गाड़ी चला दी। पराजय। असम्भाव्य दुर्बोध्य, इस पराजय की ग्लानि को हृदय में लेकर सिप्रा कौन मुँह से घर लौटे। एक सामान्य तरुण युवक, दरिद्रता से जिसके घर का प्रत्येक धूलिकण ज्वलन्त हो उठा है, उसमें इतना बड़ा अहंकार! चिर-विजयिनी नारी को वह कुछ भी नहीं समझता। सिप्रा के समस्त मन को घेरकर जल उठी, आज के इस परिचय की अग्निज्वाला! दुःसह दुःख से उसकी आँखों का जल सूख गया। उसके श्वास-प्रश्वास गर्म और तेज थे।

गाड़ी द्रुतवेग से घर की ओर चल रही थी—सिपाही के इशारे से सक्यूंलर रोड की मोड़ पर ठहर गई। सिप्रा को जैसे होश आ गया। ड्राइवर से गंगा-तट की ओर चलने को कहा। ड्राइवर को और कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई, गंगा-तट के मार्ग पर इधर से उधर गाड़ी घुमाता रहा। ठण्ढी हवा ने सिप्रा के शरीर को थोड़ा शीतल कर दिया किन्तु उसका मन वैसा ही उत्तप्त रहा।

ड्राइवर ने देखा, गाड़ी का तेल समाप्तप्राय है। अब घर न लौटने पर एञ्जिन बन्द हो जायगा। उसने डरकर पूछा—हुजूर तेल कम हो गया है।

चलो घर—सिप्रा ने कहा। घर जाकर शायद वह विधिपूर्वक स्नान करेगी। कैसी गन्दगी में गई थी। गाड़ी के बरामदे में ठह-रते ही सिप्रा ने सामने जिस नौकर को पाया, उससे कहा—माँ से कह दे, मैं खाकर आई हूँ; अब कुछ नहीं खाऊँगी—कहते ही सिप्रा अपने शयन-कक्ष में चली गई। बेग मेज पर पटककर वह

अपने बिस्तर की दोनों तकियों की नरम तह में सिर छिपाकर सीधी लेट गई।

उसकी नौकरानी पास में ही खड़ी थी, बोली—कपड़े नहीं बदलेंगी हुजूर।

नहीं—तू बत्ती बुझाकर सो जा—कहकर सिप्रा और भी अच्छी तरह सिमटकर सो गई।

२

दूसरे दिन सिप्रा के यहाँ बैठकखाने में सब लोग एकत्र हुए। सिप्रा तब भी नीचे नहीं उतरी थी। किसी दिन ऐसा नहीं होता था। सिप्रा श्रृङ्गार करने के बाद उन लोगों की प्रतीक्षा में बाहर बैठी रहती थी। आज सिप्रा को क्या हुआ, क्या बीमार हैं, समर चौधरी ने पूछा।

अतुल बोस बोला, शायद तबीयत ठीक नहीं है, सिर में दर्द है, घर में तो हैं? नरेशचन्द्र ने कहा—कुछ नहीं हुआ, ड्रेस करने में देर लग रही है। जो हो पता लगाया जाय। उन लोगों ने सिप्रा के समीप नौकर भेजा। आलस्य के साथ अतुल सिगरेट जलाकर धुएँ के गुब्बारे उड़ाता रहा।

कमरे में अजय राय आया—पूरा साहब, विशुद्ध विलायती कायदे से चलता-फिरता। पढ़ता कॉन्टीनेन्टल साहित्य और काम था कन्ट्रेक्टरी, आयु करीब तीस वर्ष, अविवाहित। कमरे का वातावरण उसे बेमेल जँचा। किसी से कुछ न कहकर उसने पूछा—मिस् चटर्जी कहाँ हैं? अभी नीचे नहीं आईं।

नहीं—कोई किसी कोने में से बोल उठा। कुछ क्षण नीरव ही कट गये। कुछ देर बाद कमरे में सिप्रा आ गई। वह एक अत्यन्त साधारण साड़ी पहिने थी। केश अस्तव्यस्त था और वेणी-

बन्धन-रहित। उन लोगों ने सिप्रा को इस वेश में कभी नहीं देखा था। अजयराय पूछ उठा—क्या तबीयत ठीक नहीं है ?

'नहीं, मैं अच्छी तरह हूँ।'

डॉक्टर अतनु बोस बोला—नहीं, नहीं, आपकी तबीयत जरूर खराब है, देखूँ हाथ।

आप मुझे क्या मिथ्यावादी बनाना चाहते हैं मि० बोस ? मैं कहती हूँ मैं अच्छी तरह हूँ। इसके बाद पूछना अनावश्यक था।

सिप्रा के इस प्रकार के आकस्मिक उद्धत क्रोध का कारण कोई भी समझ नहीं सका। धूमावृत ज्वालामुखी पर्वत पर रहने-वाले भयभीत पर्वतियों के समान वे सब चुपचाप हो गये। बेयरा के चाय लाने पर सिप्रा ने उठकर सबको चाय दी। आज का चाय-पानी कुछ जमा नहीं। अजय ने म्लान वदन होकर कहा—मोहन-बगान आज अवश्य जीतेगा, क्या राय है ? बात किससे कही गई, कोई समझा नहीं। किसी ने उत्तर भी नहीं दिया। इस प्रकार तो मजलिस जमती नहीं। ऐसा जान पड़ता था कि अँधेरे भुतहे घर में कुछ लोग किसी निर्जीव को घेरे हुए बैठे हों। उठ जाने का उपाय नहीं और बैठने में भी मन नहीं लगता था। सिप्रा ने उनकी दशा जान ली। हँसकर बोली—और रोज तो आप लोग हाथी-घोड़े पछाड़ते थे, आज क्या हो गया आप सबको ? अतुल बोला-हमें कुछ नहीं हुआ, मिस् चटर्जी, हुआ है आपको।

'क्या हुआ है कहिए तो ?'

चित्त ठीक नहीं जान पड़ता है, प्रेम में पड़ गई हैं—नरेश बोला। सिप्रा की अल्हड़ हँसी से घर की जमी हुई नीरवता टूटकर चूर-चूर हो गई। इतनी देर बाद मानों सहज हवा लौट आई थी।

मि० चन्द्र ने खूब कहा, किन्तु प्रेम नामक वस्तु है क्या ?

'क्या पता मिस चटर्जी, लेकिन आपकी भाव-भङ्गी कुछ स्वाभाविक-सी नहीं लगती।'

'मैं कविता के विषय में सोच रही थी मि० चन्द्र।'

'ओह, यह कहिए। आजकल आप आकाश में उड़ रही हैं।' आज क्या लिखा है?

सिप्रा ने कुछ उत्तर न दे सबको एक-एक कप चाय दी। इजनी देर बाद निश्चिन्त हो सब चाय पीने लगे। अच्छा तो सिप्रा के रोष का कारण भाव-भूमि-भ्रमण में विघ्न पड़ने से हुआ है। इसी कारण यह अस्तव्यस्त वेश था। सब लोग निश्चित हो गये।

अतनु हँसकर बोला—हमें अपनी कविता न सुनाएँगी?

आपको? बहुत चकित भाव से सिप्रा बोली—आप कविता के विषय में क्या जानें डा० बोस?

'जानता नहीं कुछ, किन्तु आपकी आवृत्ति अच्छी लगती है।'

'धन्यवाद। आवृत्ति सुनने के लिये कुछ रेकार्ड और ग्रामोफोन खरीद लीजिए।'

सिप्रा फिर गर्म हो गई। हँसमुख चंचला सिप्रा का यह कैसा रूप। किस प्रकार वातचीत करना ठीक होगा, वे लोग समझ नहीं सके। मि० चन्द्र कुछ कहना चाहते थे किन्तु रुक गये। यद्यपि यही मि० चन्द्र उन सबमें वाक्पटु थे, सिप्रा को भी वे बातचीत में हरा देते थे।

अजय राय को सिप्रा से बहुत आशाएँ थीं। अजय उसके माँ-बाप को भी पसन्द आगया है। और सब जो कुछ करें अजय चुप न रह सका। बोला—कविता लिखती हैं तो अच्छा ही है; किस पत्र में प्रकाशित होगी? म्लान हँसी के साथ सिप्रा बोली—प्रकाशन क्या इतना सरल है मि० राय?

'क्यों कठफुलों की तरह अखबार निकलते हैं और बरसाती मेंढकों के समान कविताएँ।'

'आशा है कविता के प्रति आप कुछ अधिक श्रद्धा करेंगे।' सिप्रा के कथन में पूर्ण कटुता थी।

सब उसके मुँह की ओर देखते रह गये, उसका मुख क्षण भर में ही पत्थर से भी अधिक कठोर हो गया, फिर भी उसने अन्तिम चेष्टा की।

'अच्छा, मैं अपनी बात वापस लेता हूँ। कविता स्वर्गीय वस्तु है, किन्तु 'वैजयन्ती' में प्रकाशन का प्रबन्ध क्यों नहीं हो सका, क्या बताइएगा?'

'कारण अच्छे पत्र में अच्छी कविता ही छप सकती है और अच्छी कविता वास्तविक कवि ही लिखते हैं।'

'ये सब सम्पादकीय चालें हैं, मिस् चटर्जी, ये लोग अपने दल की कविताएँ ही छापते हैं। पत्रिका की ग्राहिका बन जाइए अथवा कुछ नज़र कर दीजिए, झट से छाप देंगे।'

'ठहरिए मि० राय, संसार में सभी आपके समान 'शाइलाक' नहीं हैं। रुपये से जो खरीदे नहीं जा सकते, ऐसे भी लोग हैं।'

झिड़की खाकर अजय शायद थम जाता, किन्तु ऐसा आदमी कौन है यह बिना जाने उसे चैन नहीं मिली। सबके सामने आज उसकी क़लई खुल गई थी।

'आप क्या कहती हैं मिस् चटर्जी। रुपये से नहीं खरीदी जा सकती, ऐसी कौन वस्तु है? रुपये से भगवान् को भी खरीदा जा सकता है।'

सिप्रा की कठोर दृष्टि शान्त हो चुकी थी।

कुछ कोमल होकर उसने कहा—अच्छा यह कविता और पाँच सौ रुपया ले जाइए, 'वैजयन्ती' पत्र के आगामी मास में

इसे प्रकाशित करा दीजिए। जाइए, अभी जाइए, गाड़ी ले जाइए, कहिएगा आपकी एक आत्मीया मेघमाला चटर्जी की यह कविता आगामी मास में ही प्रकाशित कर दी जाय।

'किन्तु आपका नाम तो सिप्रा चटर्जी है।'

'हाँ, किन्तु इस नाम से वे परिचित हैं, यह छद्म नाम है।'

अजय फौरन कविता और रुपए लेकर बाहर चला गया। उसका निश्चय था कि मुफ्त में पाँच सौ रुपया भला इन महँगाई के दिनों में कौन छोड़ देगा। उसके आने-जाने में दो घंटे लग जायँगे, तबतक यदि टेनिस खेली जाती अथवा सिप्रा गाना गाती तो समय अच्छा कटता। किन्तु सिप्रा से कौन कहे यह बात। सिप्रा चुपचाप बाहर के जँगले की ओर निहारती हुई बैठी रही। एक नौकर प्याला-तश्तरी लेने कमरे में आया तो सिप्रा ने उससे कहा—अरे नीपू, जरा रेडियो खोल देना; ये लोग चुपचाप बैठे हैं, थोड़ा गाना ही सुनें।

बहुत देर तक किसी ने कुछ नहीं कहा। रेडियो में एक गाने के बाद दूसरा सुनाई पड़ने लगा। अकस्मात् सिप्रा चमक पड़ी। किसकी आवाज़ है यह! यह आवाज़ मानो उसकी बहुत परिचित है। सिप्रा सोचने लगी—नहीं, याद नहीं आती।

'कौन व्याख्यान दे रहे हैं डा० बोस?'

'नाम नहीं सुना मिस् चटर्जी।' सिप्रा मौन हो सुनने लगी, व्याख्यान चल रहा था:—

'कविता भूतल पर नवयुग का अरुणालोक करेगी। यह विलास की सामग्री नहीं—यह किसी धनिक लाड़ली की शृंगार-सामग्री, 'पाउडर' या 'रूज' 'लिपस्टिक या 'सुर्मा, नहीं है। इस कविता के अन्तःस्रोत में मानव के हृदय-शोणित की आदिम-तम वाणी बहती है। आज के कवि-भगीरथ का कर्तव्य है उस भावी

युग की कल-नादिनी मन्दाकिनी को भूतल पर लाना, जिसके पुण्य-स्पर्श से भारत-सन्तान सगर-सन्तान के समान ही बच उठें'''

अजय राय गाड़ी से उतर आया, मुख पर प्रसन्नता की झलक थी घुसते ही वह हँसता हुआ सिप्रा की ओर बढ़ गया, जेब से एक कागज निकालकर बोला—मिस् चटर्जी, रुपये से न हो सके, ऐसा कोई काम नहीं है; यह लीजिए रसीद, अगले महीने में ही आपकी कविता प्रकाशित हो जायगी, निश्चिन्त रहें। सिप्रा ने काँपते हाथों से कागज़ पकड़ लिया। अंग्रेजी में जो लिखा था, उसका यह अनुवाद होता है 'श्रीयुक्ता मेघमाला चटर्जी से वैजयन्ती में प्रकाशनार्थ एक कविता और पाँच सौ रुपये का एक चेक धन्यवाद सहित प्राप्त किया।

'पी. मुखर्जी'

'पी मुखर्जी' निश्चय ही पार्थ मुखोपाध्याय है, कारण, प्रवीर तो वन्द्योपाध्याय है। यह क्या हुआ ? कल सन्ध्या समय जिसने सिप्रा को साफ जवाब दे दिया था, उसीने आज अपने को पाँच सौ रुपये में बेच दिया। यह क्या सम्भव है ? सिप्रा कैसे विश्वास करे! पूछा—मि० राय, रुपया लेनेवाला देखने में कैसा व्यक्ति है ? कितनी उम्र होगी ?

व्यंग की हँसी हँसकर मि० राय बोले—उँह, एक साधारण लड़का सा था, उम्र तेईस-चौबीस होगी—देखने में खराब नहीं था—किन्तु कैसा गन्दा कमरा था। उफ, मेरा दम घुटा जाता था। ओफ्, मिस् चटर्जी, 'वैजयन्ती' छोड़कर और भी बहुत से पत्र हैं बंगाल में''''

'ओफ, ठहरिए तो, क्या कहा उसने ?'

'और क्या कहता। खूब हँसी-खुशी हाथ बढ़ाकर चेक ले लिया और रसीद लिख दी।'

सब उठकर लान की ओर चले गये। सिप्रा ने यन्त्रचालित के समान उनका अनुगमन किया—उसका मन मानों किसी समुद्र में डूब जाना चाहता है। उसे अपना शरीर ही पराया जान पड़ा। लान में सिप्रा के माँ-बाप बैठे थे। पिता ने पूछा—सिप्रा, तेरी तबीयत ठीक नहीं है क्या ?

नहीं पिताजी—ठीक ही है।

तो चेहरा क्यों उतरा हुआ है, कपड़े भी नहीं बदले हैं, क्या हो गया है तुझे ?—माँ ने विस्मित होकर पूछा।

'कुछ नहीं हुआ माँ—सिप्रा अलग जाकर बैठ गई।'

अजय आते ही बोला—ये आजकल कविता लिखती हैं मि० चटर्जी, इसी से कवियों के समान अस्त-व्यस्त हो उठी हैं।

तीव्र कण्ठ से प्रतिवाद कर सिप्रा ने कहा—चुप रहिए मि० राय, सभी कवि अस्तव्यस्त नहीं रहते, जिन्हें आप नहीं जानते, उनके विषय में कुछ कहने की अनधिकार चेष्टा क्यों करते हैं—।

अजय ने श्लिष्ट स्वर में कहा—अभी तो आपके पार्थ बाबू को देख आया हूँ, रूखे-लम्बे बालों में उँगली लगाये कविता लिख रहे हैं—अहा क्या शोभा थी !

वेदना से सिप्रा का मुख आर्त्त हो उठा, किन्तु प्रतिवाद करने का जोर गले में न आ सका। यह क्या किया पार्थ ने। सामान्य पाँच सौ रुपये के वशीभूत हो गया ? तब कल उसने यह ढोंग क्यों किया ?

अतनु, अजय, नरेश रैकेट लिये खड़े थे, सिप्रा की प्रतीक्षा हो रही थी। सिप्रा ने कहा—मैं आज खेल नहीं सकूँगी, क्षमा करिए। अजय ने कहा—न खेलने से स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा, मिस् चटर्जी।

मि० चटर्जी ने कहा—जा न सिप्रा, थोड़ा सा खेल ले।

निरुपाय होकर सिप्रा रैकेट हाथ में लेकर खड़ी हुई। मुख की फीकी विषादमयी अवस्था ने सन्ध्याकाश को भी मात कर दिया—फिर भी भद्रता की रक्षा के लिये सिप्रा उपाय-हीन थी। खेल चलने लगा। इतने में ही एक नौकर ने मिस्टर चटर्जी के सामने एक कार्ड लाकर रखा।

मि० चटर्जी ने पूछा—मेघमाला किसका नाम है सिप्रा ?

सिप्रा रैकेट फेंककर दौड़कर आई। कार्ड उठाकर नौकर से बोली—ले आओ, खूब आदर के साथ, यहाँ ले आओ—कहते-कहते वह स्वयं ही आगे जा रही थी—अकस्मात् खेल बन्द हो जाने से उत्तेजित होकर अजय बोल उठा—फिर कौन-सी आफत आ गई यह।

प्रवीर धीरे-धीरे अन्दर आया। सबको नमस्कार कर बोला—श्रीमती मेघमाला देवी से मुलाकात करना चाहता हूँ।

दोनों हाथों से नमस्कार करते-करते सिप्रा आगे आकर बोली—मेरा नाम यह, आपका नाम ? आगन्तुक के स्वर में कौतूहल था। अजय ने रूखे स्वर से कहा—हाँ, हाँ, महाशय, यह उन्हीं का नाम है, कहिए न, क्या कहते हैं ?

'आपसे मैंने कुछ नहीं कहा महोदय ! देवी, आपके लिये एक पत्र लाया हूँ।'

सिप्रा ने हाथ बढ़ाकर लिफाफा ले लिया। मोटा-सा भारी लिफाफा खोल डाला गया। उसका मुख एक क्षण में उज्ज्वल हो उठा जैसे उसे खोया हुआ हीरा मिल गया हो। चिट्ठी अजय की नाक के पास रखकर बोली—रुपया देकर नहीं खरीदी जा सकती मि० राय—ऐसी वस्तु है जगत् में देखिए। अजय, अतनु, नरेश सब चिट्ठी के ऊपर झुक पड़े, लिखा था :—

'भद्र, वैजयन्ती के ऊपर आपके स्नेह के लिये असंख्य धन्य-

वाद। दुःख के साथ निवेदन करना पड़ता है कि हम इस कविता के प्रकाशन में असमर्थ हैं। अन्य किसी समय आपकी सहानुभूति पा सकूँगा, यह आशा है।

आपके दिये हुए पाँच सौ रुपये मेरे बन्धु श्री० प्रसून ने मेरी अनुपस्थिति में ले लिये थे—उसके लिये मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। चेक भेज रहा हूँ, वापस लेकर अनुगृहीत करें। दुबारा ऐसे प्रलोभनों से सरस्वती के पूजा-मन्दिर को कलुषित करने की चेष्टा न करें, हम लोगों को दोषी न बनायें—यही प्रार्थना है।

विनीत—

पार्थ मुखोपाध्याय, सम्पादक–'वैजयन्ती'

सिप्रा का आनन्द मानो बाँध तोड़ निकला हो—मन खुशी से फूला नहीं समाया। उसने क्लान्त-मुख आँचल से पोंछ डाला–एक कप चाय पीजिए प्रवीर बाबू····।

सविनय प्रवीर ने उत्तर दिया—नहीं देवी, क्षमा करें। पार्थ मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। प्रसून को उसने कठिन दण्ड दिया है। दोपहर से उसने कुछ भी नहीं खाया है, आपके द्वारा चेक वापस लेने की खबर न मिलने तक वह जल भी नहीं पिएगा, जा रहा हूँ।—प्रवीर ने जाने के लिए नमस्कार किया। सिप्रा ने जल्दी से कहा—तो उन्हें थोड़ी देर और बिना जल ग्रहण किए रहने दें। घर आये हुए आपको मैं ऐसे नहीं जाने दे सकती—आइए।

सिप्रा प्रवीर को लेकर चली गई। क्रुद्ध, क्षुब्ध युवक-दल उनके रास्ते की ओर देखता रह गया। मि० चटर्जी बोले—तुम लोग भी जाओ न भाई, एक बार चाय पी आओ।

अजय, अतनु, नरेश आगे चले गये। मिसेस चटर्जी स्वामी से बोलीं—अच्छा लड़का है।

'हाँ, इन सबसे भिन्न, किन्तु जिसके बारे में कह रहा था वह पार्थ कौन है ?'

'जानती नहीं, सिप्रा से आज पूछूँगी।'

२

अजय, अतनु आदि ने देखा कि सिप्रा हँसकर प्रवीर के लिये चाय में चीनी मिला रही है और कह रही है—आपके मित्र अद्भुत हैं, हैं न प्रवीर बाबू ?

'अच्छा, आपने समझ लिया उसे ? किन्तु इतना सहज में समझा नहीं जाता।'

'पूर्णतया समझ नहीं सकी, किन्तु अद्भुत हैं, यह जान गई।'

'हाँ ऐसा अजीब, नासमझ दूसरा शायद ही दिखाई पड़े, कहते-कहते अजय कमरे में आया। जो आदमी पाँच-पाँच सौ रुपया मिलने पर भी कविता छापना नहीं चाहता, उसके समान महा-मूर्ख संसार में दूसरा नहीं हो सकता, मिस् चटर्जी।

प्रवीर इसी बीच चाय के दो-चार घूँट पी चुका था। सिप्रा ने क्रुद्ध स्वर में कहा—अपनी बुद्धि से ही संसार को जानने का प्रयत्न न करिए अजय बाबू, सभी आपके समान रुपये के लालची नहीं हैं, जानवरों से भरी दुनियाँ में दो एक आदमी भी हैं—।

असह्य अपमान से अजय का मुख वीभत्स हो उठा। सिप्रा नारी और उसकी भावी वधू न होती तो अजय उसको मसल ही डालता। उसने उत्तेजित कण्ठ से कहा—मिस् चटर्जी। मैं आपको अत्यन्त भद्र और सभ्य समाज में बैठने लायक मानता हूँ।

'आज से न मानिएगा। आप चाय पीजिए। प्रवीर बाबू—उठे क्यों जा रहे हैं ?'

'नहीं, मैं आप लोगों की मित्रता नष्ट नहीं करना चाहता—और चाय भी पी चुका हूँ। अब जा रहा हूँ।'

अजय प्रवीर के सामने आकर खड़ा हो गया और बोला—सुनिए महाशय, अपनी वह सनकी तुकबन्दी उन काने व्यक्तियों में बैठकर प्रचार किया करिए, इधर आने पर लँगड़ा भी बनना पड़ेगा।

'हम लोग तो आते नहीं भाई, आप ही गये थे।'

अजय और भी जोर से बोलने लगा—काम-काज कुछ नहीं, कविता करते हैं। भरपेट खाने को दो मुट्ठी अन्न भी नहीं! बेकारों का जमघट-अहमक!

प्रवीर ने धीरे से कहा—ये सब अभद्र बातें आप क्यों बक रहे हैं, महाशय।

'कहता हूँ जिससे तुम लोगों को शिक्षा मिल जाय? तुम्हारे उस उजबक मित्र को—।'

'सावधान होकर कहिए आप। आपमें मेरे मित्र का नाम भी उच्चारण करने की योग्यता नहीं। और एक भी शब्द निकाला तो घूँसे से नाक चपटी कर दूँगा।'

प्रवीर का शक्तिशाली दाहिना हाथ उत्तेजना से ऊपर उठ गया। प्रत्येक मांस-पेशी उसकी सिंह-शक्ति का परिचय देती थी। अजय रुक गया, अतनु दूर खड़ा था, और भी थोड़ा उधर सरक गया। प्रवीर अकस्मात् लज्जित हास्य-पूर्वक सिप्रा की ओर देखकर बोला, क्षमा करिए देवी, पार्थ की निन्दा मैं सह नहीं सकता, वह मेरा भाई है, गुरु है। अच्छा, अब मैं जाता हूँ, नमस्कार!

प्रवीर बाहर चला गया। निस्तब्ध कमरे को तरल हँसी से भरकर सिप्रा ने कहा–वीरवर, अजय राय महाशय, आप तो एकदम चुप हैं। हिः हिः हिः। सिप्रा हँसते-हँसते दुहरी हुई जाती थी।

'आप क्या कहती हैं, मैं क्या इस गुण्डे से लड़ूँगा।'

'नहीं, आप लड़ ही नहीं सकते, किन्तु, वाग्युद्ध भी बन्द कर दिया न ?'

सिप्रा कौतुक-भरी हँसी के साथ उसकी ओर ताकने लगी। उसका समस्त मुख रूप-कान्ति से जगमगा रहा था। अजय ने एक निःश्वास छोड़कर कहा, देखता हूँ मेरे अपमान से आपको खुशी हुई है।

सिप्रा इस अभियोग का उत्तर ढूँढ़ न सकी।

अजय ने फिर कहा—एक व्यक्ति को घर बुलाकर गुण्डे द्वारा अपमान कराना किस देश की सभ्यता है ?

सिप्रा का मुख फिर हँसी से दीप्त हो उठा। अजय के प्रश्न ने ही उसकी सहायता की अजय के अभियोग का उत्तर देने में।

'आपने ही किस देश की सभ्यता के अनुसार मेरे अतिथि का अपमान किया और मेरे मित्र के मित्र को 'उजबक' कहकर गाली दी।'

थोड़ी देर चुप रहकर अजय बोला—वह क्या हम लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मीय है।

'अपना-पराया मेरा कोई नहीं, अतिथि हैं सभी। सब एक दूसरे का सम्मान रखेंगे, ऐसी आशा है। अच्छा, मैं नहाने जा रही हूँ, नमस्कार।'

सिप्रा बाहर चली गई। ब्वाय ट्रे में तीन आदमियों की चाय ले आया। इसके बाद भी क्या अजय यहाँ चाय पिएगा ? नहीं, अजय बाहर निकल गया। अतनु और नरेश चाय पी रहे थे।

सिप्रा श्वेत वस्त्र धारणकर बाहर आकर बोली—'अजय बाबू चले गए, नाराज हो गये क्या ?

जानता नहीं मिस् चटर्जी, प्रेम की विचित्र गति है। कोई

मान करता है, दूसरा उसे भङ्ग करता है—और मिष्टान्नम् अर्थात् 'चा-अन्नम्' इतरे जनाः'—कहकर नरेश ने चाय का घूँट पिया। सिप्रा सरल आनन्द से खिलखिलाकर हँस पड़ी।

४

गाड़ी से उतरते ही अजय ने पूछा—चित्रा कहाँ है रे?

'मिस् साहब' सो रही हैं—नौकर बोला।

'सो रही हैं—क्यों? तबीयत तो ठीक है न? तू एक बार खबर कर दे कि मैं उसके कमरे में आ रहा हूँ।' नौकर चला गया। अजय आकर ड्रेसिङ्ग रूम में घुस गया, पोशाक बदली, इसके बाद चित्रा के कमरे की ओर पैर बढ़ाए।

चित्रा एक सोफे पर लेटी हुई थी। हाथों में एक अँग्रेजी नॉवेल था। तन्वी देह पर धूसर रंग की महीन साड़ी उन्मादक रूपलोक की सृष्टि कर रही थी। कानों में दो बड़े-बड़े कर्णफूल थे जो काले-काले बालों से आधे ढके थे। वेणी आगे की ओर दंशनोद्यत साँप के समान पड़ी थी। अजय ने एक बार बाहर से ताककर देखा, उसके बाद कमरे में आकर पुकारा—चित्रा।

चित्रा उठकर बैठ गई—आओ दादा, क्या खबर है? तुम्हारी आँखें इतनी लाल क्यों हैं?

'तुम घूमने नहीं गईं आज चित्रा—तबीयत तो ठीक है न?'

'नहीं, माथे में कुछ दर्द है, यह किताब पढ़ रही थी। यह सब रहने दो, तुम क्या कह रहे थे?'

'सिप्रा को शायद न पा सकूँगा—उसका मन दूसरी ओर जा रहा है।'

'क्यों—क्या हो गया, उसके साथ झगड़ा हो गया है क्या?'

'नहीं, झगड़ा क्यों—कहीं का एक भाग्य-हीन कवि उसके मन में बस गया है ।'

'कवि लोग तो सुना है अपने हृदय में ही भूले रहते हैं, वे दूसरों का हृदय क्यों लेने लगे ?'

'अब तक यही समझता था—किन्तु ।'

'क्या हो गया दादा, स्पष्ट कहो न ।'

अजय ने सारी घटना चित्रा को सुना दी। अन्त में उसने आवेगपूर्ण स्वर में कहा—सिप्रा के हृदय में इतनी बड़ी आदर्श-निष्ठा है, यह मैंने कभी नहीं सोचा था, अब क्या करना चाहिए।

'मुझसे क्या कराना चाहते हो तुम—क्या सिप्रा को समझाऊँ ?'

'उससे कुछ नहीं होगा। तुम्हें कुछ अभिनय करना पड़ेगा इस छोकरे को लेकर—समझीं ! जैसे भी हो सिप्रा को दिखाना होगा कि वह जिसकी आदर्श-निष्ठा पर मुग्ध है, उसका आदर्श कुछ नहीं है—वह एक नितान्त साधारण मनुष्य है ।'

'तुम जैसा उसे कहते हो, यदि वह मेरी ओर एक बार भी न देखे तो ।'

'क्या कहती हो तुम चित्रा ? सिप्रा से तुम कम सुन्दरी नहीं हो; उस भाग्यहीन को 'कप्'-चोर बनना ही पड़ेगा—नहीं तो सिप्रा मेरे हाथ से निकल जायगी—और इसका मतलब है अन-शन—समझीं न ?'

'अच्छा दादा; मैं कल ही चेष्टा करूँगी—फिर भी सिप्रा को साथ मिलाकर ही चेष्टा करनी पड़ेगी ।'

'क्यों, अकेले नहीं कर सकोगी ?'

'कर सकती हूँ—किन्तु सिप्रा की आँखों के सामने यह दिखाऊँगी कि उसका स्वर्गीय देवता केवल कच्ची मिट्टी की मूर्ति है ।'

'कर सकती हो तुम, निश्चय ही कर सकती हो! थोड़े दिन उसको अटकाये रखो। इसी बीच सिप्रा की स्वीकृति मिल जाय तो बस।'

अजय के चले जाने के बाद बहुत देर तक सोच-विचारकर चित्रा ने 'स्कीम' बना ली। उत्साह से उसका हृदय उछलने लगा। आज उसे एक योग्य व्यक्ति मिला है जिसे मुग्ध करने का आनन्द अद्भुत होगा? इन आधुनिक युवकों को रूप-जाल में फाँसना और छोड़ देना तो इतना आनन्ददायक नहीं। ये तो फन्दा देखते ही उसमें दौड़कर गिर पड़ते हैं। कवि पार्थ शायद एक योग्य व्यक्ति है जिसको फाँसना उतना सरल नहीं। किन्तु कविगण तो जिसे देखते हैं उसी के रूप में मस्त हो जाते हैं। यह किस प्रकार का कवि है? फूलों की गन्ध और पक्षियों के गान से जिनका कारबार चलता है, उनकी क्या हिम्मत जो महिला-कवि की कविता का निरादर करें। अच्छा, चित्रा इस अहंकारी कवि-सम्पादक को देख लेगी।

चित्रा सो गई। सुबह जब कपड़े पहिनकर नीचे आई तब तक सात नहीं बजे थे। इसी समय सिप्रा के साथ मिले बिना काम न चलता। वह शीघ्र ही गाड़ी में आकर बैठ गई और जब सिप्रा के मकान पर पहुँची तब पौने आठ बजे थे। सिप्रा शायद अभी उठी न हो, यह सोचकर वह उसकी माँ के पास जाना ही चाहती थी कि सिप्रा ने आकर उसकी अभ्यर्थना की। उसने हँसकर पूछा, अहा, चित्रा, अच्छी तो हो?

'हाँ बहिन, तुमसे कुछ जरूरी बातें करनी हैं।'

सो तो समझ गई। आओ—कहकर सिप्रा उसे अपने घर में ले गई। चित्रा ने द्वार बन्द कर कहा—सुना है एक कवि से तेरी नवीन मित्रता हुई है?

'मित्रता नहीं, बातचीत कह सकती हो। क्यों ?'

'बहिन, मेरी भी दो एक कविता छपवा देना।'

'मैं छपवा दूँगी ? मेरी क्या सामर्थ्य है बहिन ! तेरी कविता यदि उन्हें पसन्द न आये तो.........डाक द्वारा भेज देना।'

'तेरे कहे बिना शायद वह देखे ही नहीं।'

'वे किसी के कहने की चिन्ता नहीं करते—वे सत्य और सुंदर के पुजारी हैं।'

'जा, क्यों बातें बनाती है ! ये सब नाटकीय ढोंग रहने दे—मुझे वहाँ ले चल न।'

'कहाँ ? उसके पास ? असम्भव। मैं नहीं जा सकूँगी।'

'सीधे कह दे न कि तू 'रिकमेण्ड' नहीं करेगी ?'

'रिकमेण्ड' करने का मान वे नहीं रखते चित्रा—उन्हें कोई भी मुग्ध नहीं कर सकता।'

'क्या कहती है तू ! यदि मैं कर दूँ तो ?'

'तो मैं तुम्हारे भाई की दासी बन जाऊँगी, और तुझे उर्वशी की बड़ी बहिन कहूँगी—सिप्रा मुसकरा उठी।'

'चल मुँह-फट !—अच्छा सुन, अपनी कुछ सुन्दर-सुन्दर कविताएँ मुझे दे दे। मैं उसे अपने घर आज ही निमन्त्रण दूँगी, उसके आने पर उसे कविताएँ दिखाऊँगी और साथ में वही—भुवन-मोहिनी विद्या—समझ गई, मैं उसका घमण्ड चूर करूँगी।

सिप्रा चुप हो गई। पार्थ को उसने तो देखा था। कहा—अच्छा कर सको तो चेष्टा करो। देखना, कहीं अपने को ही न भूल जाना।

'दुर्, मुझे भूलने की क्या पड़ी। कविगण प्रायः देखने में तो सुन्दर नहीं होते सिप्रा।'

'होते हैं कि नहीं, देखने से ही समझ सकोगी ! अच्छा, तो

निमन्त्रण-पत्र लिख दो। चित्रा ने अपने घर का पता देकर लिखा:—

श्रद्धास्पद महोदय,

स्वरचित कुछ कविताएँ आपको दिखाना चाहती हूँ। डाक द्वारा भेज सकती थी, किन्तु आपके दर्शनों की इच्छा का दमन न कर सकी। यदि आज सन्ध्या समय सात बजे मेरे यहाँ आने की कृपा करें तो अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगी। आशा करती हूँ, आप जैसे उदार महान कवि-हृदय के समीप इस दीना, लेखिका की प्रार्थना व्यर्थ न होगी। नमस्कार सहित— विनीता

चित्रा राय

सब ठीक-ठाक करके चित्रा घर लौटी—सोचा, कुछ देर सोना पड़ेगा, नहीं तो मुखश्री क्लान्त दिखाई पड़ेगी। सिप्रा ने छः बजे उनके घर जाने का निश्चय किया। पार्थ पर उन्हें विजय प्राप्त करना ही है।

सायंकाल, छः बजते ही सिप्रा चित्रा के घर में घुसी। नहा-धोकर चित्रा अपने ड्रेसिङ्ग रूम में बैठी थी। पार्थ की अभ्यर्थना का समस्त आयोजन कर रखा था। सिप्रा के आने की खबर पाकर चित्रा उसे ड्रेसिङ्ग रूम में ही ले गई। उसकी सबसे सुन्दर साड़ी, सबसे सुंदर गहना बाहर निकालकर चित्रा को सजाया गया। सर्पिल वेणी में विलायती पुष्प लगा। कान में स्वर्ण-लतिका के साथ पद्म-कली, हाथों में फूल-मालाओं के वलय-कंकण और गले में मुक्ताहार के साथ पुष्पमाला पहिना दी। सिप्रा ने चित्रा को मनोहर मुनि-वेश में सजा दिया। सजाते समय चित्रा बोली—इतना तो कर रही हो, किन्तु वह यदि नहीं आया तो?

'आवेंगे ही, उनके समीप तेरी यह प्रार्थना निष्फल नहीं होगी।'

'तेरी तो इस आदमी के ऊपर अगाध श्रद्धा जान पड़ती है !'

सिप्रा मौन रही। चित्रा का शृंगार समाप्त हो गया। सात बजने में देर नहीं थी। सन्ध्या के सात बजे पार्थ को बुलाने का उद्देश्य था—रात्रि के उज्ज्वल नील प्रकाश में चित्रा की अधिक सुन्दर और मनोहारिणी आत्म-प्रदर्शनी। पार्थ को बैठाने के लिए निर्वाचित कक्ष में खड़े होकर यह देख लिया गया कि चित्रा कैसी दीख पड़ती है। सिप्रा ने कहा—कहा नहीं जा सकता कि पार्थ आज दिल थामकर लौट सकेगा या नहीं। तुझे प्यार करने को तो मेरी भी इच्छा हो रही है।

उत्तर में चित्रा ने मृदु हास्य किया। यह हँसी देखकर सिप्रा आतंकित हो उठी; पार्थ यदि आज चित्रा की छलना से लुट गया तो ? सिप्रा यह क्या कर रही है ? क्यों वह पार्थ के साथ छल कर रही है ? किन्तु बात इतनी बढ़ चुकी कि अब खत्म नहीं की जा सकती। सिप्रा अनुतप्त और लज्जित हो गई। उसने मुँह फेरकर बाहर की ओर देखा। एक कुटिल, क्रूर हँसी चित्रा के मुख पर खेलने लगी। सिप्रा अपने जाल में आप ही फँस गई थी।

इसी समय पार्थ गेट में घुसा। जल्दी से सिप्रा और चित्रा पास के कमरे में चली गईं। नौकर पार्थ को सुसज्जित कमरे में सादर ले आया। उज्वल नीलालोक की चाँदनी खेल रही थी उस कमरे में। प्रकाण्ड फूलदानी में झरना झर रहा था। चारों ओर कोच-कुशन भली भाँति सजे रखे थे। समस्त कक्ष मानों अमरावती का परिचय दे रहा था। पार्थ चुपचाप नीचे की ओर मुँह किए कमरे में घुसा। नौकर ने कहा—बैठिए हुजूर 'मिस् साहब' अभी आती हैं।

पार्थ धीरे-धीरे चहलकदमी करता रहा। उसके हाथों में मुड़ा हुआ एक मासिक पत्र था। आँखें फर्श की ओर थीं।

जिसके लिये इतना परिश्रम करना पड़ा उसे चित्रा एक बार छिपकर देख तो ले; पर्दे की फाँक से चित्रा ने पार्थ को देखा। उस ओर पीठ किए वह दूसरी ओर जा रहा था। वह 'मिलमेड' धोती और सादा लट्ठे का कुर्ता पहिने था। सुगठित, बलिष्ठ पृष्ठ भाग क्षीण कटि में आ मिला था और नीचे की ओर प्रशस्त होकर सुन्दर वृत्ताकार शक्ल में दीख पड़ता था। पैरों में सादे जूते थे। पार्थ सामने से लौटकर उधर की ओर आने लगा; उज्वल आलोक उसके स्वर्णिम ललाट, आरक्त कपोल और लम्बी-लम्बी भुजाओं तथा उन्नत विशाल वक्षस्थल पर पड़ने लगा। यह रूप मानों दृप्त सूर्य का प्रभात-कालीन परिचय था। चित्रा अवाक् निहारती रह गई। सिप्रा ने चित्रा को एक झटका दिया—'जा न अब क्यों खड़ी है?' चेतना पाकर चित्रा आगे बढ़ी और पार्थ को नमस्ते किया। पार्थ ने उसके पैरों की ओर ताककर जवाब दिया। वह मृदु स्वर में बोला, 'मैं क्या श्रीमती चित्रा राय के साथ बात कर रहा हूँ देवि?'

'हाँ, बैठिए मैं ही चित्रा हूँ।' पार्थ धीरे से हटकर दूरस्थ एक सोफे पर जाकर बैठ गया।

उसने कहा—आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ, आदेश करिए।

'आपसे मुझे बहुत काम है—थोड़ी चाय पीजिए, उसके बाद कहूँगी।'

बेयरा ने ट्रे लाकर पार्थ के सोफा के पास एक छोटी-सी तिपाई पर रख दी। चित्रा ने खड़ी होकर तश्तरी में केक, बिस्कुट सजाकर पार्थ के सामने रख दिया। उसके बाद वह सयत्न चाय तैयार करने लगी। कमरे में नीरवता छा रही थी। केक का एक टुकड़ा खाकर पार्थ ने पूछा—कहिए देवि। आपका आदेश! चाय में दूध ढालते-ढालते चित्रा बोली—आदेश नहीं—प्रार्थना

है, मेरी कुछ कविताएँ हैं, आप देख लीजिए और यदि कोई पसन्द हो तो·····

'लाइए अपनी कविताएँ—मैं सानन्द देखूँगा।'

'थोड़ी सी चाय पी लीजिए पहले—कहकर चित्रा ने चाय का प्याला पार्थ की ओर बढ़ा दिया और उसके बाद चेहरे पर हँसी लाकर कहा—जानते हैं, आपकी 'वैजयन्ती' की मैं एक परम भक्त पाठिका हूँ, उसका प्रत्येक पृष्ठ पढ़े बिना मेरा मन ही नहीं मानता। उसके द्वारा आपके हृदय का जो परिचय मिलता है उससे जान पड़ता है कि साहित्य में युगान्तर आ रहा है—आपमें आश्चर्यमयी शक्ति है।

'असंख्य धन्यवाद, आपकी रस-ग्राहिता के लिये।'

अभी तक पार्थ ने एक बार भी चित्रा की ओर नहीं देखा था। चित्रा से यह छिपा न था। क्या उसकी यह साज-सज्जा सब व्यर्थ हो जायगी। चित्रा क्या उपाय करे। अब पंखा कुछ जोर से चलाने के बहाने वह उठ आई और दीवाल पर टँगे 'माइकेलेञ्जेलो' के चित्र 'दि होली फैमिली' के पास खड़े होकर कहा—देखिए यह चित्र आपको पसन्द है ?

इतनी देर बाद पार्थ ने आँखें उठाकर चित्र की ओर देखा चित्र की पृष्ठ-भूमि पर चित्रा मानो स्वयं ही सजीव चित्र-सी लगती थी। पार्थ उसकी मायामयी रूप-सुषमा पर मुग्ध हो गया। उसके कमल-कली-से दोनों नेत्र चित्रा के मोहक रूप के अरुणा-लोक में निद्रित-से जान पड़े। चित्रा ने पार्थ की मुग्ध-दृष्टि देख ली। चिरविजयिनी नारी के आरक्त चरण-तल पर पुरुष की चिर-पराजय तो विधाता का अभिशाप है। चित्रा आत्मगर्व की खुशी से हँस उठी। वह आज भी विजयिनी हुई—वह अनेक हृदयों पर विजय पा चुकी थी। इधर की ओर लौटते समय आँचल

में और पादाग्र पर एक सुकोमल नृत्य-मुद्रा की हिल्लोल करती हुई वह 'राफाएल' की कृति के पास जाकर खड़ी हो गई। बोली—यह कैसा चित्र है; कहिए तो—अच्छा नहीं? परिपुष्ट वक्ष के एक भाग पर मुख-चन्द्र-कला की ज्योत्स्ना-माधुरी खेल रही थी। बाहुओं में कोमल-मसृण लावण्य तरङ्गायित था, लाल गण्डस्थल पर वारुणी रूपायित थी।

चपल मधुर हँसी से उसका सारा शरीर चमत्कृत हो रहा था, मानो मेघों में बिजली चमक रही हो। चाय का प्याला धीरे से तिपाई के ऊपर रखकर पार्थ ने दोनों हाथों से आँखें ढँककर पुकारा—माँ""। आँखों पर हाथ रखने से चित्रा ने समझा कि पार्थ की आँखों में तीव्र प्रकाश के कारण कष्ट हो रहा है। उसने उसी समय 'स्विच् आफ' कर एक मृदु स्निग्ध बल्ब जला दिया—आँखों में कष्ट हो रहा है—नहीं? रहने दीजिए आज चित्र देखना—

कोमल ईषत् प्रकाश से कमरे में एक कुहेलिका-सी बनी हुई थी। चित्रा उसमें प्रति-क्षण अधिक सुन्दर दिखाई पड़ रही थी। कण्ठ में चंचल हास्य का माधुर्य भरकर वह फिर चहक उठी—आपको कष्ट दिया तेज रोशनी से। एक गीत गाऊँ,—सुनेंगे?

'नहीं, देवी, मेरे पास समय बहुत कम है, अब आप अपनी कविताएँ दे दीजिए।'

'मुझे खुशी है कि आपके दर्शन हुए, आपके साथ बातचीत की, और कविता दिखाना तो आज रहने ही दीजिए।'

'अच्छा, मैं अब जा रहा हूँ।'

'वाह, आप अभी जायँगे क्यों। कुछ देर और बैठिए।' चित्रा के स्वर में मान-भरा आग्रह था। पार्थ ने चित्रा की ओर देखा, उसके मुख पर खेलती जवानी शारदीय ज्योत्स्ना के समान

फूटी पड़ रही थी; दोनों नेत्रों में रति-रानी की लास्य लहरी थी; पार्थ ने नेत्र नीचे कर लिए। बोला—मुझे व्यर्थ न रोकिए देवी, मुझे बहुत काम करना है।

'हूँ, बड़ा भारी काम है! घर में बहू भी नहीं, जो विरहाकुल हों, बैठिए, महोदय, मैं सितार लेकर अभी आई। पर्दे के पास आते ही सिप्रा ने झट से उसके हाथ में सितार बढ़ा दिया। तूम ता ना ना ना करते हुए चित्रा पार्थ के सोफे के पास आकर खड़ी हो गई और बोली—क्या बजाऊँ?

'मुझे जाना पड़ेगा, आपका संगीत नहीं सुन सका, क्षमा करिएगा, मैं…।'

'नहीं, नहीं, अभी कुछ देर और बैठिए, अभी मैं आपको किसी तरह नहीं जाने दूँगी—कहते-कहते चित्रा सितार गोद में लिए पार्थ के पास ही सोफे पर आकर धम् से बैठ गई। पार्थ तत्क्षण उठ खड़ा हुआ—धनुष से छूटे तीर के समान। चकित होकर चित्रा ने कहा—इस प्रकार क्यों उठ खड़े हुए, क्या हो गया?

'मैं उस ओर कुर्सी पर बैठूँगा देवि।'

'क्यों? मैं क्या कोई 'अछूत' हूँ—आप खूब हैं। आइए बैठिए भी।'

'चित्रा की अन्तिम बात में मायाविनी नारी का आह्वान था।

'मैं आपके साथ एक आसन पर नहीं बैठ सकूँगा देवी!'

'क्यों नहीं, बैठ सकेंगे। मैं क्या अपवित्र हूँ?'—चित्रा ने बड़े आश्चर्य के साथ उसके मुख की ओर देखा।

'नहीं, आप अपवित्र नहीं हैं; किन्तु मैंने जीवन भर माँ, और अत्यन्त निकट आत्मीया को छोड़कर किसी नारी का स्पर्श नहीं किया, यही मेरा व्रत है। आप मुझे क्षमा करें।'

'अद्भुत। अच्छा मि० मुखर्जी, इस वैज्ञानिक युग में भी आप व्रत-नियम पालन करते हैं।'

व्यङ्ग-भरी हँसी हँसकर चित्रा ने कहा—खूब। रेलगाड़ी में भी क्या आप इसी प्रकार छुआछूत रखकर चलते हैं मि० मुखर्जी? यदि मर्दाने डिब्बे में औरतें बैठी हों तो उसमें चढ़ते भी न होंगे?

'जहाँ तक हो सकता है, नियम-रक्षा करता हूँ देवि, अच्छा मैं जाता हूँ। नमस्कार।'

पार्थ धीरे से कमरे के बाहर आ गया और बाग के चौड़े रास्ते पर उतर आया। सिप्रा इतनी देर में दौड़कर आ गई। पीछे से पुकारती हुई बोली—ठहरिए मुखर्जी महाशय, मेरी गाड़ी में आइए, आपको पहुँचा दूँ। पार्थ ने मुड़कर विस्मित कण्ठ से कहा—आप—यहाँ?

यह चित्रा राय है—मेरी सहेली। इतनी देर से मैं उसी के पास थी। क्षण भर में पार्थ का सुन्दर मुख कठोर हो उठा। कहा—ये आपकी सहेली हैं। सिप्रा देवी, आपमें कवित्व-शक्ति भले ही न हो, किन्तु मैंने सोचा था, सती माँ का वह रक्त-आपकी नसों में दौड़ रहा है जिसने छलना करना नहीं सीखा। किन्तु यह मैंने बड़ी भूल की। कुछ ठहरकर पार्थ ने कहा—आपकी गाड़ी में नहीं बैठ सकूँगा भद्रे, धन्यवाद, नमस्कार।

पार्थ चला गया। सिप्रा के चेहरे का रंग उड़ गया। वह काँप उठी। उसने किसी प्रकार एक वृक्ष का सहारा लेकर अपने को सम्भाल लिया। उसके बाद गाड़ी में बैठकर ड्राइवर से कहा—घर चलो।

उसके रुदन-भरे कण्ठस्वर से ड्राइवर भी चौंक उठा।

चित्रा ने बाराण्डे में खड़े होकर पार्थ और सिप्रा की बातचीत सुन ली थी। सिप्रा को उसने फिर नहीं पुकारा। सिप्रा की मान-

सिक स्थिति उसने मन-ही-मन भाँप ली। धीरे-धीरे सीढ़ी चढ़ती हुई वह अपने कमरे में चली गई। उसके देह-मन चेतना-हीन-से हो गये थे। कुछ देर बाद अजय कमरे में घुसा। उसने बड़ी उद्विग्नता के साथ पूछा—क्या हुआ चित्रा, कितना सफल हुईं? उस लड़के को देखा तो तुमने?

शान्त स्वर से चित्रा ने जवाब दिया—देख लिया। तुम सिप्रा की आशा छोड़ दो!

'क्यों? क्यों चित्रा? पार्थ क्या देखने में इतना सुन्दर है। कैसा है देखने में?

चित्रा ने अपने शरीर की फूल-मालाओं को तोड़कर फेंकते हुए कहा—कैसा है यह कह नहीं सकती—भाषा नहीं जानती।

'क्या कहती है चित्रा। अंग्रेजी में कह दे, यदि बँगला में न कह सके तो, देखता हूँ तुम सब तो उसी की उपासिका बनी जा रही हो।'

भैया!—कहकर आभूषण-हीन चित्रा पास के कोच पर बैठ गई—जो देखेगा वही उसकी प्रशंसा करेगा, क्या नारी, क्या पुरुष, तुम देखोगे तो तुम भी उसकी प्रशंसा करोगे। उसके साथ प्रतिद्वन्दिता मत करो भैया, मैं मना करती हूँ; तुम जीत नहीं सकोगे। तुम सन्तुष्ट रहो, उसे सिप्रा भी नहीं पा सकती; कौन उसे पा सकेगी यह मैं नहीं जानती, किन्तु सिप्रा नहीं; हम लोगों में से कोई भी नहीं—शायद उसका अभी जन्म नहीं हुआ।

अधीर होकर अजय चिल्ला उठा—बस, बस चित्रा, तेरे मन की बात मैं समझ गया—तू भी उसके फन्दे में फँस गई—नानसेंस। वह तुझे क्या खिलाएगा।

'उसके साथ फाके करके भी रहा जा सकता है भैया, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता, नहीं तो मैं अपना सौभाग्य समझती। जाने

दो—तुम इतनी चिन्ता मत करो, अशोका के द्वारा मैं एक बार फिर चेष्टा करूँगी। अशोका कविता करती है और पत्रों में प्रकाशित भी करती है। सचमुच अच्छी कविता लिखती है वह देखने में भी सुन्दर है।'

'कितनी सुन्दर है, तेरे समान ?'

'मुझसे भी अधिक, यहाँ तक कि सिप्रा से भी उसके मुख की छवि अच्छी है, बस साँवला रंग है, यही एक कमी है।'

'सिप्रा से भी अधिक सुन्दर। क्या कहती है तू ?'

'हाँ वह 'एन्गेज्ड' है, नहीं तो मैं तुम्हारे लिये प्रयत्न करती।'

किन्तु सिप्रा के बाप की सम्पत्ति····।'

'हाँ यह बात अवश्य है। किन्तु रूप भी उपेक्ष्य नहीं है, समझे ?'

'ओ हो, यह नहीं कहता। जो हो, उसके द्वारा भी एक बार चेष्टा करो। यदि मात दे सकी तो तेरे लिए भी एक राजपुत्र····।'

चित्रा मुसकरा दी—विषादमयी म्लान और करुण मुसकान।

५

पार्थ सीधे घर आया—माँ—ओ माँ—ओ माँ—माँ—कहाँ है री टूसी ?

'यह माँ जवाब तो दे रही है, एक साथ पुकारे जा रहे हो सुनोगे कैसे।'

'यहाँ हूँ बेटा, कहाँ गया था रे ? बारामदे में चटाई पर सोती हुई माँ की गोद में पार्थ सिकुड़कर लेट गया। कुछ देर बाद बोला—आज खूब बच गया माँ, तुम्हारा लड़का आज हारा जा रहा था—

'क्यों ? किसके साथ युद्ध करने गया था ? उसकी माँ ने उसके मस्तक पर हाथ फेरते-फेरते कहा।

'ओ टूसी, मेरे लिये एक कप चाय तैयार कर, अच्छी तरह, और सिर धोने के लिये गंगाजल दे।'

'मेरे पास इतना गंगाजल नहीं है।'

'क्यों नहीं है ? ला नहीं सकती तू, दुष्टा कहीं की।'

'देखती हो माँ बात-बात में गाली !'

'तुम नहीं ला सकते क्या ? आजकल तो बाबू साहब गंगा नहाने भी नहीं जाते। बड़ा मासिक पत्र है हमारा।'—टूसी ने मुँह बनाकर कहा।

'सुन लो, माँ सुनो, इसे मैं एक चाँटे में ठीक कर दूँगा—।'

'मैं भी कर दूँगी—ठीक करेंगे, कर लिया।'

'क्या कहा ? अच्छा ठहर तो—पार्थ ने उठना चाहा। माँ ने पकड़कर उसे सुला दिया—आः तू, ठहर न ! दिन-रात झगड़ा मत किया कर, टूसी जा, तू चाय बना ला।

'ये गंगाजल क्यों नहीं लाते माँ, तुम्हीं कहो ? टूसी ने कहा।

'यह क्यों नहीं लाती माँ, तुम्हीं बोलो।'

'वह कैसे लाएगी बेटा, बेचारी ने परसों ही तो भात खाया है। गंगाजल तुझे ही लाना चाहिए। मैं भी अकेली कई दिन गंगा नहाने नहीं जा सकी। थोड़ा सा गंगाजल छिड़क ले।'

टूसी माँ के पैरों के पास बैठ गई। पार्थ ने उसकी ओर देखा। बोला—माँ के लाड़-प्यार से दिन पर दिन तू ढीठ होती जा रही है, ठीक है न ? चाय बनायेगी या नहीं ?

'खूब होऊँगी, ढीठ बनूँगी ? तुम्हें क्या इससे। न जाने कहाँ

घर-घर घूमते-फिरते हो और यहाँ आकर 'रोब' झाड़ते हो। क्या शान है।'

'देख लो, माँ देख लो, तुम-लाड़-प्यार करके इसे''''।

'ठीक तो कहती है, वह, ठीक कहती है—जा री चाय कर दे।'

'चाय का पानी चढ़ा आई हूँ माँ, स्नान के लिये भी पानी रख दिया है।' टूसी माँ के पैरों के तलवे सुहलाने लगी। पार्थ नहाने चला गया। सिर पर कुछ लोटे जल डालकर बोला—ओ री, गंगाजल छिड़क जा—आ!

टूसी ने आकर गंगाजल छिड़क दिया सिर पर, और धीरे से बोली—कहाँ गये थे?

तेरे दुश्मन के घर–समझी। दबे गले से पार्थ ने जवाब दिया।

स्नान कर, कपड़े बदल, पार्थ फिर माँ के पास आ बैठा। माँ सो रही थीं। पार्थ ने माँ के शरीर पर हाथ रखा। टूसी ने आकर उसके हाथ में चाय का प्याला दे दिया, बोली—भात कब खाओगे? रात दस बजे चा''''

'चुप माँ सो रही हैं—उसके बाद और भी धीरे से कहा—माँ ने खा लिया न टूसी?'

'नहीं, आज एकादशी है—कहकर टूसी माँ की पीठ के पास बैठ गई। वे दोनों ही चुप थे। जोर से बोलने से माँ की नींद टूट जाती। पार्थ ने कहा—माँ की नींद खुलने पर खाऊँगा—क्या कहती है!

'अच्छा'—

पार्थ उठकर आफिस में चला गया—यानी उसी चटाई बिछे कमरे में। कमरे की शोभा बदल गई थी। खूब सफाई से झाड़ू लगाया गया था, पुस्तकें सीधी खड़ी लगी थीं—आलों में से

धूल साफ कर दी गई थी। अच्छा तो टूसी ने आज सफाई कर दी है। कई दिन बीमारी में चले गये। पार्थ ने धीरे से कहा—टूसी ?

हाँ—आई—कहकर टूसी सामने आ खड़ी हुई। वह अब भी काफी दुबली दीख पड़ती थी।

'शरीर में जोर आ गया है क्या टूसी ? इतनी जल्दी इतना काम नहीं करना था।'

'टूसी चुपचाप थोड़ा सा हँसी, उसके बाद बोली—कैसा बना रखा था।

'ठीक दरिद्रियों जैसा—यही न ? यदि लक्ष्मी को जूड़ी-बुखार आ जाय तो...।'

टूसी ने लौटना चाहा। पार्थ बोला—चलो, रहने दो। सुनो, जाओ नहीं, आओ, कहता हूँ।'

'खाओगे नहीं ? आओ खाना दे दूँ, नहीं तो माँ नाराज होंगी मुझपर।'

'तुमसे माँ कभी नाराज नहीं होतीं। होती हैं इस अकर्मण्य लड़के पर—पार्थ बोला।'

'हाँ नाराज नहीं होतीं। दोष करने पर माँ किसी को नहीं छोड़तीं। खूब जानते हो।'

'मैं नहीं जानता, तू जानती है, आँ। बोलती बन्द कर दी न मेरी।'

'हाँ जानती हूँ, तुमसे अधिक जानती हूँ, माँ उठ पड़ी हैं—दौड़कर टूसी माँ के पास चली गई।

माँ बोली—लल्ला ने अभी खाया नहीं टूसी ? कहाँ है वह ?

इसी कमरे में, खाते नहीं, माँ, मैं क्या करूँ—टूसी ने गाल फुलाकर कहा।

माँ ने पुकारा—लल्ला खा न ले। बीमार लड़की तेरे लिये और अधिक नहीं जाग सकेगी!

'आया माँ—खाना दे भी वह, दिन-रात मेरे खिलाफ तुमसे शिकायत करती रहती है।'

'वह कुछ नहीं करती, जो कुछ करता है तू ही—तू ही दिन-रात उसके पीछे पड़ा रहता है—जा खा ले।'

टूसी ने रसोईघर में पहले चौका साफ किया, फिर पट्टा बिछाया, उसके बाद काँसे के स्वच्छ थाल में दाल, भात और साग ले आई। दाल-चावल मिलाते-मिलाते पार्थ धीरे से बोला—'काली जामुन खायगी टूसी, कल चार पैसे को ला दूँगा।'

'हाँ खाऊँगी, ला देना। आज ले आते तो माँ को पारण करते समय दे देती।'

'कहा क्यों नहीं? अच्छा टूसी, अपने बाग में मैं उस काली जामुनों के पेड़ के नीचे तुझे ले जाकर पीठ पर पकी हुई काली जामुनों की बरसात-सी झाड़ देता था, याद है न।'

'याद नहीं रहेगा—पका सीताफल (शरीफा) फाड़कर मारते और मटियाला साँप पकड़कर डराते थे ऊधमी?'

'अच्छा टूसी, उसी काशीफल में निशाना लगाने में तेरे पैर में जो तीर लग गया था उसका दाग अभी है या मिट गया?'

है—खूब स्पष्ट है, देखोगे? यह देखो। टूसी ने घुटने के नीचे एक सादा दाग दिखा दिया। पार्थ सिहर उठा। उसके बाद हँसकर बोला—ये दाग लगाकर मैंने तुझे खरीद लिया है यह दाग जिन्दगी भर तेरे शरीर में रहेगा न। टूसी भी आनन्द से लज्जित-सी हँस पड़ी। बोली—उसके बाद तीर निकालकर तब हरी दूब बाँध चुके तो बोले—'लक्ष्मी री माँ से मत कहना—माँ मारेंगी—तब?'

'माँ से झूठ क्यों बोली थी कि ठोकर लग गई है ?'

'तुम्हीं ने सच कहने को मना कर दिया। ठोकर के सिवाय और मैं क्या बताती ?'

'माँ से झूठ नहीं बोलना चाहिए, तभी तो मैंने स्वयं शाम को माँ से कह दिया कि तुम्हारी लड़की बहुत झूठ बोलती है, उसको मैंने ही तीर से बेध दिया था।'

'माँ किन्तु मुझ पर तो बिगड़ीं नहीं—तुम कुछ खा नहीं रहे हो ?'

'नहीं, अब और नहीं खा पाऊँगा।'

बालकपन की बातें याद आजाने पर मन जैसे कुछ स्वप्नालु-सा हो जाता है—पार्थ उठ खड़ा हुआ। टूसी ने हाथ धोने के लिये उसे जल दिया। और तौलिया दी हाथ पोंछने के लिये।

पार्थ आफिस में चटाई के ऊपर बैठ गया। टूसी ने सफेद चादर बिछाकर पहले ही बिछौना लगा दिया था। अब वह खायगी, खा-पीकर माँ के पास जाकर सो जायगी। पार्थ सोचने लगा, टूसी को लेकर उसकी जिन्दगी में कितनी हँसी-खुशी हुई है। टूसी जब छोटी सी लड़की थी तब वह खेत में से केकड़ा पकड़कर टूसी के घने बालों में छोड़ देता था; केकड़ा उसके बालों को पैरों में जकड़ लेता था। डर के मारे टूसी रो पड़ती और पार्थ को मजा आता। माँ आकर पार्थ के एक चाँटा लगातीं और टूसी को छुड़ाती थीं। मटरू बकरे की सींगों में तेल लगाकर पार्थ उसके साथ कुश्ती लड़ता और सन्त्रस्त टूसी को खड़े होकर यह देखना पड़ता, नहीं तो उसका छुटकारा न था। इतिहास पढ़-कर उसे टूसी को भी वीराङ्गना बनाने का शौक हुआ। घर के चौक में कुएँ से जल खींचते समय पार्थ आकर टूसी को धक्का दे देता। हाथ से छूटकर घड़ा कुँए में गिर जाता और टूसी रोने

लगती। थोड़ी देर उसे रुलाकर पार्थ झट से कुएँ में कूद पड़ता और घड़ा निकाल देता। किन्तु स्वयं बहुत देर तक पानी के ऊपर उठता ही नहीं, टूसी बहुत देर तक उसे डूबा हुआ देखकर रोने-चिल्लाने लगती—ओ माँ—माँ री—ओ, ये तो डूब गए—अरी माँ री तब क्या करूँ ?' पार्थ बाहर आकर खिलखिलाकर हँस देता। उनके जीवन की ऐसी कितनी ही घटनाएँ थीं। माँ घर के प्रकाण्ड चौक को छोड़कर टूसी को कहीं नहीं जाने देती थीं, आज भी वही हाल है। पर्देवाली गाड़ी में माँ उसे गंगा स्नान के लिये ले जाती हैं। माँ उसे इतना पर्दा में क्यों रखती हैं। कौन जाने। माँ से तो पूछा नहीं जा सकता। माँ जो हैं। माँ जो इच्छा हो करें, माँ पार्थ की उपास्या देवी हैं।

किन्तु इसमें निश्चय ही कोई कारण है। टूसी जो वह उमा-महेश्वर-व्रत करती है, जिससे पार्थ को छोड़कर वह अन्य किसी पुरुष का मुख नहीं देखती, इस रहस्य की सृष्टि भी माँ ने ही की है। माँ क्या डरती हैं कि टूसी को उनके हृदय के पास से कोई छीन न ले जाय ? हूँ क्या ये सब बेकार की बातें सोच रहा हूँ। मुझे इस मास के अंक के लिये एक कहानी लिखनी है। इसी के बचपन से ही यथेष्ट सामग्री मिल सकती है। कागज-लेकर पार्थ लिखने बैठा। टूसी कमरे आ गई, बोली—बहुत रात बीत गई, अब सो जाओ तो—देखूँ और कल लिखना।

'तुम्हारा हुक्म है क्या। भाग यहाँ से !'

'अच्छा, माँ से कहे देती हूँ—कहे देती हूँ मैं ?'

पार्थ का जोर दम-भर में थम गया। बोला—ना ना, लक्ष्मी री, मैं, थोड़ी देर बाद ही सो जाऊँगा।

'साढ़े बारह बज गया—कब सोओगे, सुनूँ तो सही ?'

'दो बजे सो जाऊँगा।'

'दो बजे—चली मैं माँ के पास।'

'ठहरो! दूसी लौट गई, पार्थ बुलाता ही रहा—ए सुनो… सुनो…एक बजे…एक बजे सो जाऊँगा, तुम सो जाओ, शरीर ठीक नहीं है।

'हाँ मैं सोऊँगी और तुम सारी रात लिखोगे। तुम नहीं सोए तो मैं भी नहीं सोऊँगी।'

'अच्छा मैं सोने जाता हूँ, तुम जाओ, सो जाओ। बाप रे! तेरा हुक्म माने बिना खैर नहीं।' पार्थ ने रोशनी बुझा दी।

हाँ नहीं है—कहकर हँसती हुई दूसी चली गई।

६

मालती—ओ मालू।

आई भैया—कहते-कहते एक अट्ठारह साल की युवती प्रवीर के पढ़ने के कमरे में आ खड़ी हुई। इस सुन्दर लड़की को देखते ही पहिचाना जा सकता था कि ये प्रवीर की बहिन थीं। बोली—क्या बुला रहे हो भैया—और चाय पिओगे?

'नहीं—तू क्या कर रही थी उस कमरे में?'

'तुम्हारे कुर्ते में जेब सी रही थी।'

'उसे यहाँ ले आ मेरे पास बैठकर सिलाई कर—जा ले आ।'

मालती जाकर कुर्ता और सुई-डोरा ले आई और भाई के बिस्तरे के किनारे पर बैठ गई।

'सुन मालती, कल पार्थ का हमलोग अभिनन्दन करेंगे, वह नवयुग का श्रेष्ठ कवि है। एक कविता लिखी है सुन।'

'कविता मैं क्या समझूँ भैया। यह सब मुझे क्या सुनाओगे?'

ठीक समझ जायगी—मन लगाकर सुन, प्रवीर पढ़ने लगा—

'दुर्योगमयी निशा के अन्धकार को खण्डित कर नवजीवन

के नवीन सूर्य के समान भारत-तीर्थ के सिर पर यह किसका उदय हुआ ?'

काश्मीर से कन्याकुमारी और इरावती से द्वारावती तक, चालीस करोड़ मनुष्य के जीवन को यह किसने गौरवान्वित कर दिया है ?

मानव क्या आज मानव बन गया है ? महा-मानव के सूर्यालोक से उसका सम्पूर्ण पशुत्व मिट गया है क्या ? समझ लिया है क्या सुख और शोक को एक समान ?

क्या इन सबने यही सत्य माना है कि सबसे अधिक मानव ही सत्य है ?

दिशाओं के छोरों तक नीलाकाश में छा जानेवाली 'वैजयन्ती' किसने उड़ाई है ?

कहाँ देखी है महामानव द्वारा मानव की इतनी निष्ठापूर्ण सेवा, 'क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ यहाँ कौन दुबारा घोषित कर रहा है ?'

यहाँ जिसके श्री-कर-पुट में 'वैजयन्ती' आन्दोलित हो रही है वही तो भावी-युग का मानव पार्थ है उसके चरणों में यह समर्पित है।'

कविता-पाठ समाप्त होने के बाद भी कमरा जैसे प्रवीर के गम्भीर गले की आवाज से अब भी गम् गम् कर रहा था।

मालती चुप रह गई।

'कविता कैसी है मालती ! अच्छी नहीं है ?'

खूब अच्छी है—मालती हँसकर बोली।

'अच्छा, इसे तू एक कागज पर लिख देना। तेरे हाथ का लिखा अच्छा होता है, मैं कुछ पैसे खर्च कर मढ़वा लूँगा।'

'मढ़ाओगे क्यों ? पार्थ बाबू तुम्हें बुरा-भला कहेंगे।'

'क्यों ? बुरा-भला क्यों कहेंगे ?'

'कहेंगे, चार आने में एक आदमी दो बार खाना खाता। क्यों व्यर्थ नष्ट किये।'

'तूने ठीक समझा है पार्थ को। अच्छा, तो ऐसे ही लिख दे, मढ़वाऊँगा नहीं।' भाई-बहिन कुछ देर चुप रहे। प्रवीर सोच रहा था बाहर जाने के लिए। मालती ने कहा—अच्छा भैया! पार्थ बाबू तो तुमसे अवस्था में छोटे हैं ?

'हाँ, उसकी अवस्था यही प्रायः २५ वर्ष होगी।'

'तो तुमने आशीर्वाद नहीं दिया उन्हें।'

'अवस्था में छोटे होने पर भी वह अन्य सब विषयों में मुझसे बड़ा है, मेरा गुरु है वह—।'

'हाँ—क्यों न। फिर भी विद्वान् छोटा भाई क्या बड़े भाई को प्रणाम नहीं करेगा ?'

प्रवीर बहिन की तीक्ष्ण बुद्धि पर कुछ हँसा—अच्छा आशीर्वाद दूँगा। तू मेरे लिये थोड़ी सी चाय कर दे तो। बाहर जाना है मुझे।

'किए देती हूँ—कुर्ते की जेब कैसे फट गई थी भैया। अरे तुम्हारा वही मित्र आ रहा है।'

'कौन ?' पार्थ या प्रसून ?'

प्रवीरदा—घर में हैं ? प्रसून ने पुकारा।

हाँ भाई, आओ—कहकर प्रवीर उठकर बैठ गया। मालती बाहर चली गई।

'क्या समाचार है प्रसून ?'

'पार्थदा क्या मुझे अब क्षमा नहीं करेंगे प्रवीरदा ?'

'करेगा भाई करेगा। क्षमा नहीं करने से पार्थ का 'पार्थत्व' कहाँ रहेगा ? नहीं तो जो तुम और मैं हूँ वही पार्थ भी बन

जायगा। निश्चय ही क्षमा करेगा। चलो आज ही तुम्हें ले चलता हूँ। और सुनो, यह कविता देखी है।'

कविता प्रवीर ने भी पढ़ी। समाप्त होने पर प्रसून ने कहा—वाह, चमत्कारपूर्ण है। किन्तु मैं क्या दूँगा प्रवीरदा, मैं तो यहीं इसका निर्णय किए बिना जा नहीं पाऊँगा।

'यही दोनों आदमी मिलकर देंगे रे मूर्ख—चिन्ता क्यों करता है।'

मालती चाय लेकर आ खड़ी हुई। प्रसून ने उसके मुँह की ओर देखा। मालती ने आँखें नीची कर लीं। चाय के प्याले को लेने से पहिले ही प्रसून ने कहा—नमस्कार, अच्छी तो हैं न ?

सिर हिलाकर उत्तर दिया मालती ने और खाट पर ही अखबार बिछाकर चाय रख दी। प्रसून लज्जित-सा होकर बोला—मुझे दीजिए, मुझे दीजिए, आप बहुत देर से लिये खड़ी हैं। मालती मुख नीचा किए चली गई।

चाय पीकर प्रवीर और प्रसून बाहर चले गये। मालती अकेली बैठी सोचने लगी—दादा पार्थ की बेहद भक्ति करते हैं न ? कहते हैं, 'वह उनका गुरु है'—आश्चर्य पार्थ बाबू भी अच्छे युवक हैं। कितने अच्छे ? मनुष्य इतना ऊँचा कैसे बन जाता है—कौन जाने ? अच्छा पार्थ बाबू क्या विवाह नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे—दादा से तो पार्थ बाबू भी अवस्था में भी छोटे हैं। हाँ दादा की शादी हो जाय पहले, तभी तो वे करेंगे। अच्छा किससे शादी करेंगे ? कौन जाने कैसी लड़की होगी वह। उन्हीं के समान अद्वितीय, निष्ठावती, उन्हीं के समान सत्यवादिनी, जितेन्द्रिया, उन्हीं के समान सर्व गुणालंकृता। किन्तु कौन होगी ऐसी लड़की। उनके योग्य लड़की मैंने तो एक भी नहीं देखी। किन्तु कितनी देखी हैं मैंने ? कालिज की लड़कियाँ तो सब फाजिल हैं—

बेचाल हैं, यद्यपि उनमें भी कुछ तो काफी सुसंस्कृत हैं, सुयोग्य हैं। किन्तु पार्थ के योग्य-शायद ही कोई! दादा ने मुझे अच्छा सावधान कर दिया, नहीं तो मैं भी कुछ भी न सीख पाती। छिः स्त्री को स्त्री के समान ही रहना है। वे पुरुष के साथ मिथ्या समानता का स्वाँग क्यों रचती हैं? किन्तु दादा तो कहते हैं कि पार्थ बाबू के घर में माँ के सिवाय एक और भी कोई है, वह कौन है? उनकी बहू है या बहिन? जान पड़ता है बहिन होगी—शादी ही नहीं हुई तो बहू कहाँ से आएगी? कल यदि दादा पार्थ बाबू के अभिनन्दन के समय मुझे ले जायँ तो मैं भी उसे देख आऊँगी। वे तो शायद किसी के सामने निकलती ही नहीं—किन्तु मेरे सामने तो निकलेंगी ही।

भैया की बात सुनकर हँसी भी आती है, दुःख भी होता है। उस दिन कहा—'बहिन री, उधर मत ताकना—पार्थ को कोई नहीं पाएगा—पार्थ आजीवन ब्रह्मचारी है। उसकी पूजा की जा सकती है, किन्तु शरीर मन के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। ऐसा ही होगा क्या? शादी तो वे करेंगे ही, किन्तु योग्य पात्री से। परन्तु मैं इस प्रसून से बहुत परेशान हूँ। अंत में दादा से ही कहना पड़ेगा। ऐसा भकुआकर मुँह की ओर ताकता है, जैसे निगल जायगा। अच्छी बात है, और दो एक दिन बाद दादा से कह दूँगी। अरे मैं केवल अपनी बात ही सोच रही हूँ। मेरे भाई की शादी कब होगी। माँ न जाने क्यों···इतना ही यदि मान जातीं।

मालती—कहकर किसी ने पुकारा। आई माँ—कहकर मालती ने आकर द्वार खोल दिया। माँ कमरे में आईं और बोलीं—प्रवीर बाहर गया है क्या री? कितनी देर हो गई।

'अभी गये हैं—करीब पन्द्रह मिनट हुए होंगे।'

'तू अकेले ही बैठी है क्या हो गया है प्रवीर को—थोड़ी देर ठहर ही जाती।'

'उनके मित्र वही प्रसून बुला ले गए हैं माँ।'

'वह लड़का मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। कैसे लम्बे-लम्बे बाल रखे ढोंग किए फिरता है। कविता मानों और कोई नहीं लिखता—पार्थ, प्रवीर कोई भी तो लम्बे बाल नहीं रखते।

मालती हँस पड़ी—यह 'वारीन्द्रिक' फैशन है माँ—तुम यह नहीं समझोगी, किन्तु वह मुझे भी अच्छा नहीं लगता। कुछ जैसे पीछे-सा पड़ जाता है।

'उसे यहाँ आने को मना कर दूँगी मैं।'

'अच्छा माँ, तुम कभी पार्थ बाबू के घर गई हो ?

'नहीं बेटी, बहुत दूर है, कैसे जाती ? कालिज स्ट्रीट में है। तू क्यों नहीं गई प्रवीर के साथ ?'

'दादा ले नहीं जाते माँ, पार्थ बाबू की अनुमति चाहते हैं।'

'अच्छा मैं कह दूँगी पार्थ से, आने दे उसे !'

आ गया माँ, प्रवीर कहाँ है ? कहकर पार्थ दरवाजे पर आ खड़ा हुआ।

'आओ पार्थ, आओ; प्रवीर तुम्हारे उस प्रसून के साथ कहीं गया है। बैठो तुम—माल्ू—चाय बनाना बेटी।'

मालती ने पार्थ को प्रणाम किया। पार्थ ने आशीर्वाद दिया—चिरायुष्मती हो। मालती चली गई।

'आप क्या कहती थीं माँ, मेरा नाम लेकर ? बरामदे में बैठे हुए पार्थ ने माँ से पूछा।'

'मालती तुम्हारी माँ को प्रणाम करना चाहती है। प्रवीर उसे ले नहीं जाता, वह तुम्हारी अनुमति चाहता है।'

'ओ, कल ही आना तुम माल्ू बहिन—किन्तु वहाँ तुम्हारे

समान ही एक और लड़की है, उसके साथ जाकर झगड़ा न करना।'

'हूँ, झगड़ा करना ही तो मेरा काम है न।'

मालती ने दूसरे कमरे से कहा—पर मैं कल आऊँगी जरूर।

'आना—मैं प्रवीर से तुझे ले आने को कह दूँगा।'

'अच्छा, वह 'लड़की' किसी के सामने निकलती क्यों नहीं ?' मेरे सामने तो निकलेगी न।'

'हाँ, तेरे सामने क्यों नहीं निकलेगी—वह बाहर के किसी भी आदमी को मुँह नहीं दिखाती। एक व्रत कर रही है वह।'

'तो दादा मुझे इतने दिनों तक क्यों नहीं ले गये ?'

'यह तो नहीं मालूम; शायद मेरा घर बहुत दूर होने के कारण न ले गया होगा।'

मालती चाय ले आई। पार्थ ने प्याला उठा लिया। इसी समय प्रवीर और प्रसून कमरे में आ गये।—हम लोगों को भी दो प्याले—प्रवीर ने कहा।

'अब मैं चाय नहीं बनाऊँगी—बाप रे बाप—अभी तो चाय पी के गये थे दादा,—झङ्कार के साथ मालती ने कहा—मुख पर विरक्ति की छाप थी।

देख बहिन, तू तो सचमुच ही दूसी जैसा झगड़ा करती है। जा चाय बना ला—पार्थ ने कहा।

'मालती धीरे-धीरे चली गई। पार्थ ने कहा—तुम कहाँ गये थे प्रवीर ?

इस महीने के चित्रों के कुछ ब्लॉक लेने गया था, किन्तु अभी तैयार ही नहीं है। देख पार्थ, प्रसून को तू क्षमा कर दे भाई, वह रोता फिरता है—बालक ही तो है।

आओ प्रसून—पुकारा पार्थ ने—तू कवि है, किन्तु है बड़ा दुर्बल। स्त्रियों के नाम से ही तुझे मोह हो जाता है। स्त्रियाँ अच्छी होती हैं, निश्चय ही अच्छी होती हैं, उनकी प्रेरणा से ही कवि का काव्य पैदा होता है, विकसित होता है किन्तु कवि की अन्तःश्री उनमें नहीं, कवि उसकी सृष्टि अपने मन में ही करता है। गुरुदेव ने गाया है—

'आमि आपन मनेर माधुरी मिशाये तोमार करेछि रचना। तुमि आमारि गो, तुमि आमारि—' समझे। कविता की 'मानसी' को अपने मन की माधुरी से रच लो, वास्तव में वह कभी नहीं मिलती। फिर भी तुझसे कहता हूँ प्रसून! यदि तू किसी को प्यार करता है तो उसी को कर। एकनिष्ठता ही प्रेम का एकमात्र आश्रय है, और प्रेम के बिना कविता नहीं होती। नारी के बाह्य रूप का आश्रय लेकर जो कविता होती है वह केवल आडम्बर है। कवि को रूप की उतनी ही आवश्यकता है जितनी भावाभिव्यञ्जना के लिए भाषा की है। किन्तु भावहीन भाषा रसहीन साहित्य है और वह प्रेम-हीन जीवन के समान निरर्थक है।

सब चुपचाप पार्थ की बातें सुनते रहे। प्रसून ने पार्थ के चरणों पर सिर रख दिया।

तुम मालती को माँ के पास क्यों नहीं ले जाते प्रवीर? उसने मुझसे शिकायत की है। अपनी सफाई पेश करो!—पार्थ ने कहा—चाय तो दे—उसके बाद देखा जायगा,—प्रवीर ने कहा—मालती चाय ले आई। प्याले रखते ही प्रवीर ने कहा—तू जा हाथ-पैर धो आ, हम लोगों को कुछ बातें करनी हैं।' बातचीत उसी के सम्बन्ध में है, मालती यह समझ गई थी और दूर जाकर भी वह आड़ में खड़ी रही। 'उसे यह सुनना था कि पार्थ के यहाँ उसका भाई उसे क्यों नहीं ले गया अब तक।

पार्थ ! प्रवीर ने पुकारा—तू आग से खेल क्यों करता है—कह सकता है ?

'हाँ, कह सकता हूँ, आग वेद की श्रेष्ठ वस्तु है, मानव-सभ्यता की आदिमतम प्रतीक है। आग से भात पकता है, दाल पकती है, साग बनता है, चाय बनती है और फुलझरी भी छुड़ाते हैं। 'पार्थ के बोलने के ढंग से सभी हँस पड़े। प्रवीर ने कहा—तू प्रश्न को उड़ाए दे रहा है पार्थ—सीधा जवाब तू नहीं देगा, यह मैं जानता हूँ।

'तुम सीधा प्रश्न करो तब न—नहीं तो उत्तर क्या दूँगा ?'

मालती को तुम क्यों अपने घर ले जाने के लिये कहते हो ? मालती तुझे किस प्रकार देखती है, यह तुम नहीं जानते, इसे मैं मानूँगा। उसे तेरे घर ले जाकर कैसे दिखाऊँगा कि वहाँ तेरी....

'ठहर-ठहर भाई, इसीलिये उसे घर ले जाने के लिए कहा है। वह भी देख आये कि मेरा हृदय पूर्ण है। इसी प्रकार वह मुझे बहिन का स्नेह दे सकेगी। समझे।'

'किन्तु उसका हृदय जलकर खाक हो जायगा, यह तुम अच्छी तरह जानते हो, वह इससे बचेगी नहीं।'

'मेरे साथ उसका परिचय ही क्यों कराया था प्रवीर। उस दिन की तेरी बेवकूफी का ही यह नतीजा है न। मुझे निमन्त्रण देकर घर लाने की क्या आवश्यकता थी तुझे ? इस समय उसको अन्य भाव में ही सम्भालना पड़ेगा। पहले उसको कुछ कष्ट होगा किन्तु अन्त में उसे माँ के आशीर्वाद से मैं निर्विकार कर दूँगा। कल तुम उसे ले आना समझे।'

पार्थ उठकर खड़ा हो गया। प्रसून आनत मुख बैठा था। प्रवीर बोल उठा—अरे तुम उठे नहीं ?—हाँ, सुशान्त बाबू के पास से मैं भी लेख ले आऊँ। पार्थ ने माँ को प्रणाम किया और

जोर से कहा, कल तुम आना बहिन निश्चय ही आना। वे तीनों ही बाहर चले गये। माँ बरामदे में ही बैठी रहीं। मालती का नहाना नहीं हो सका उस दिन।—कितनी देर करेगी वह!

७

सिप्रा रात भर के निद्रा-विहीन नेत्रों को ठीक करने की कोशिश कर रही थी, नौकरानी ने आकर कहा—मि० राय बहुत देर से बैठे हैं।

'इस समय नहीं मिल सकती—कह दे, मेरी तबीयत ठीक नहीं। नौकरानी लौटकर जा रही थी कि सिप्रा ने फिर बुलाया।'

'अच्छा बैठने दे, कहना, दस-पन्द्रह मिनट बाद मैं आती हूँ।' अजय सुबह ही क्यों आया है, सिप्रा को समझने में कष्ट नहीं हुआ; किन्तु वह क्या करे। पार्थ के देखने के बाद से अजय उसकी दृष्टि में धूलि के समान म्लान हो चुका था। अजय को स्नेह करना सिप्रा के लिये असम्भव से भी अधिक था अब। परन्तु अजय-जैसे पिछलग्गू व्यक्ति से छुटकारा कैसे मिले। मौका मिलने पर अजय पार्थ का अनिष्ट करने में भी न चूकेगा। सिप्रा क्या पार्थ को इस प्रकार विपत्ति में डालेगी। मुख-हाथ धोते समय सिप्रा ने ये बातें खूब अच्छी तरह सोच लीं। एक साधारण साड़ी पहिनकर वह अजय के पास आ पहुँची। 'गुड मार्निंग' कहकर अजय बोला—सुना, तबीयत खराब है; कष्ट देने के लिये लज्जित हूँ।

'कुछ नहीं, ठीक हूँ—कहकर सिप्रा एक कुर्सी पर बैठ गई।'

'आपके साथ कुछ बातें करनी हैं मिस चटर्जी—किन्तु...'

'कहिए 'किन्तु' की कोई बात नहीं।'

'इतने दिन मैं आपके नाम से अपने को गौरवान्वित समझता

रहा हूँ और मेरी आशा भविष्य में भी ऐसी ही थी किन्तु···· अजय रुक गया।'

'आज वह आशा संकुचित कैसे हो गई, राय महाशय ?'

'इस 'राय महाशय' के सम्बोधन से ही। आज तक आप मुझे अंग्रेजी सभ्यतानुसार मि० राय' कहकर बुलाती थीं, आज किस महान् आदर्श ने आपको 'राय महाशय' बोलने को अनुप्राणित किया ? आप तो जानती ही हैं मैं बङ्गाली उच्चारण नहीं करता।'

मि० राय को 'राय महाशय' बोलने से सम्मान ही अधिक होता है, क्योंकि यह हमारी मातृभाषा का सम्बोधन है। आपका अंग्रेजी सम्बोधन के ऊपर मोह छूट जाने पर मैं बहुत खुश होऊँगी; जिसके आदर्श से मैं अनुप्राणित हूँ, एक दिन शायद उसके आदर्श से सारा भारतवर्ष अनुप्राणित होगा। यह आदर्श उसीका नहीं है, समस्त भारतवर्ष का है। किन्तु इसमें डरने की क्या बात है ?

आपका 'सब-कान्शास माइन्ड' इस उच्छृङ्खल लड़के की ओर इनक्लाइन्ड···।

'आप उसके सम्बन्ध में ससम्मान बातें करें, राय महाशय, यह मेरा एकमात्र अनुरोध है और मेरा अचेतन मन यदि उसी की ओर ढल जाय तो मैं क्या कर सकती हूँ ? अचेतन मन के ऊपर तो चेतन मन की कोई क्रिया नहीं होती; यह तो आपके आधुनिक मनोविज्ञान का ही मत है।—किन्तु आप बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं।'

'क्या भूल कर रहा हूँ मिस् चटर्जी, जान सकता हूँ क्या ?'

इसी समय बेयरा चाय ले आया।

सिप्रा चाय ढालते-ढालते बोली—'बतलाने की दृष्टि से ही मैं यहाँ आई हूँ—चाय पीजिए।'

अजय अधीर आग्रह से सिप्रा की बात सुनने की प्रतीक्षा करता रहा। क्या भूल उसने की है—कहाँ है उसकी भूल—सिप्रा आज उसे बतायेगी! सिप्रा ने धीरे-धीरे चाय पीते हुए मन-ही-मन सब बातें ठीककर बाद में कहना शुरू किया।

'राय महाशय, आदर्श के प्रति निष्ठा रखना मनुष्य की आदिम सभ्य प्रवृत्ति है, कारण मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठना चाहता है। इसीलिये वह नगर में, वन में, बर्बरता में, सभ्यता में सृष्टि के आदिम क्षण से ही आदर्श खोजता चला आ रहा है। जहाँ भी आदर्श मिला वहीं उसका मन आनन्द से उच्छ्वसित हो उठा, वहीं उसके हृदय को भक्ति की पवित्रधारा ने प्लावित कर दिया। जो निराकार निरुपाधि भगवान् की महिमा का प्रचार करते हैं वहाँ भी उनके श्रोतागण भगवान् को छोड़कर उस प्रचारक की ही पहले पूजा करते हैं। आदर्श के प्रति मनुष्य की निष्ठा इतनी बलवत्तर है। आपने तो रामायण नहीं पढ़ी राय महाशय, पढ़कर देखिएगा, आदर्श-स्वामी मिला था इसीलिये सीता रावण के अन्तःपुर में रहकर भी सती रहीं और आदर्श-पत्नी प्राप्त करके ही रामचन्द्र ससागरा भारत-भूमि के सम्राट् होकर भी सर्वस्व त्यागी संन्यासी के समान आनन्द के साथ जीवन बिता गये।'—सिप्रा ने थोड़ी देर ठहरकर दम लिया। इसी बीच अजय ने कहा—'किन्तु यहाँ यह बात क्यों?'

'कहती हूँ' कहकर सिप्रा ने दुबारा बोलना शुरू किया—'नारी किसी को देह देते ही उसीको हृदय भी दे सकेगी—यह बात पाश्चात्य मनोविज्ञान के ज्ञाता आप कभी विश्वास न करें। नारी—केवल नारी ही क्यों—पुरुष भी प्रेम उसी से करेगा, जो

उसका आदर्श है जो उसके मानस-लोक का कल्पित राजपुत्र है। उसी आदर्श के सन्धान में नारी और पुरुष युग-युगान्तर से चिर-यात्री बने घूम रहे हैं। सभ्यता के संसार में घूमे हैं और घूमेंगे भी—मृत्यु-महोत्सव के बीच—तपः-साधना के तीव्र आनन्द-वेग में। जहाँ भी उन्हें उनका आदर्श मिला, वहीं उन्होंने अपनी लम्बी यात्रा में विराम कर दिया। आदर्श बदला, फिर चल पड़े ये अक्लान्त पथिक अपने जीवन-देवता की खोज में। जितने दिन मानव-समाज फिर जड़ीभूत न हो जाय, उतने दिन आदर्श के पीछे उसकी इस यात्रा का अन्त नहीं, विश्राम नहीं, और न पूर्णच्छेद ही हो सकता है।' सिप्रा फिर रुक गई। उसका कण्ठ उत्तेजना के कारण व्याख्यान-दाताओं जैसा हो गया था। हृत्तन्त्री के उच्च-ग्राम में बँधे स्वर को इस गान की कड़ी-कड़ी के बीच में जैसे उतार लाई हो वह। 'किन्तु हाँ, आपने एक भारी भूल की है, आपका यह सोचना भूल है कि आदर्श के लिये तपस्या करना और विवाह कर संसार बनाना एक ही चीज है। पार्थ से मैं स्नेह करती हूँ, श्रद्धा करती हूँ, और देवता के समान उपासना करती हूँ उसकी—किन्तु मैं उससे विवाह करना चाहती हूँ, ऐसी धारणा भी अपने मन में क्यों होने देते हैं आप। विवाहित जीवन में पार्थ को पा सकनेवाली लड़की मैं नहीं हूँ, न मेरी वह योग्यता है और न तपस्या ही। देवता को मनुष्य जिस प्रकार पूजता है, मैं भी ठीक उसी प्रकार उसकी आराधना करूँगी, यह जानकर भी यदि आप स्वेच्छा से, सानन्द, मुझे ग्रहण करें तो मेरी ओर से शायद ही कोई आपत्ति हो।'

'शायद ही क्यों कहती हैं मिस चटर्जी ?' अजय ने पूछा।

'इसलिये कहती हूँ कि यह जानकर भी आप मुझे हृदय से ग्रहण कर सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह है—मैं परीक्षा करूँगी !'

'क्या परीक्षा मिस् चटर्जी ?'

'मेरी पैतृक सम्पत्ति में से एक कानी कौड़ी भी मैं या आप नहीं पा सकेंगे—केवल मुझे ही स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं आप ?'

सहसा अजय इसका जवाब न दे पाया। सिप्रा ने कुछ देर राह देखकर कहा–'जाइए, सोच लीजिए खूब–मैं जा रही हूँ।'

सिप्रा चली गई।

अजय टेबुल पर माथा रखे उसी जगह बहुत देर बैठा रहा।

८

आज की साहित्य गोष्ठी खूब अच्छी जमी थी। बहस का विषय था साहित्य में यथार्थ-वाद और आदर्शवाद। सभापति सर्व-सम्मति से पार्थ था। प्रसून, प्रवाल, शैवाल, इन्द्रजित, अरुणा, इन्द्राणी को लेकर केवल सात व्यक्ति गोलाकार में बैठे थे। पार्थ ने भीतर की ओर का जंगला थोड़ा खोल कर कहा—'टूसी, सात कप चाय और थोड़ा-सा हलुआ बना देना तो।'

प्रवाल ने कहा, 'पार्थदा, हलुआ क्यों बनवाते हैं, हम लोग सभी खाकर आये हैं।'

'किंतु मैंने अभी नहीं खाया, इसलिये तुम्हें भी खाना पड़ेगा।'

सभी मुस्करा दिये। पार्थ को मित्रों की खातिरदारी से रोकना बहुत कठिन था, बहस चलती रही।

इन्द्राणी देवी ने कहा—'सुना है 'उपमा कालिदासस्य'—किन्तु आजकल उपमा की जो छटा है, उससे लज्जा के मारे कालिदास को भी छिपना पड़ता !'

शैवाल बोला—'यह मैशीन-युग है। जो कुछ भी वास्तविक है वह सभी साहित्य में स्थान पाने का अधिकार जताता है—

उसको अस्वीकार करने से काम नहीं चल सकता, इन्द्राणी देवी ?'

'यथार्थ को लेकर ही चिरकाल से साहित्य-सृष्टि हो रही है शैवाल बाबू, किन्तु उपमा के द्वारा यदि सौंदर्य-ज्ञान जागृत न हो तो उस उपमा का मूल्य क्या केवल वक्तव्य-विषय की धारणा करना ही है ?'

'इसके सिवाय और क्या है। वक्तव्य को सुविकसित करने के लिये ही तो उपमा दी जाती है।' इन्द्रजित् ने कहा।

पार्थ ने कहा, 'तुम्हारा और इन्द्राणी देवी का कथन सत्य है किन्तु उपमा में सौन्दर्य की अपेक्षा न करने से अलङ्कार-दोष होता है और जो अलङ्कार सुन्दर नहीं, उसको पहिनने का कोई अर्थ नहीं।'

अरुणा देवी बोलीं, 'तो क्या आपका आशय है कि आधुनिक साहित्य की उपमाएँ व्यर्थ हैं ? तब तो नवीन साहित्य का आपके समीप कोई मूल्य ही नहीं।'

'यह नहीं कहता देवी, तब भी कालिदास की 'नदी-वीचिषु भ्रू-विलासान्' और आनुनिक साहित्य की 'टेनिस-रैकेट' के किनारे के समान गोल और काली भौंहें'। उपमाएँ एक-सी नहीं हैं। सौन्दर्य किसमें अधिक है, किसी को भी बताना नहीं पड़ेगा। दोनों ही यथार्थ हैं किन्तु सौन्दर्य में भेद है, जैसे सुन्दर पक्षि कहते समय मोर और कौवा में भेद है।'

द्वार के समीप आहट हुई। पार्थ स्वयं जाकर चाय के प्याले और हलुआ ले आया, सबको देने लगा।

शैवाल ने कहा, 'यानी तुम यह कहना चाहते हो कि साहित्य में इच्छानुसार यथार्थवाद नहीं चलेगा, शुक-पिक और मयूर को भी जीवित रखना पड़ेगा।'

'हाँ यही—जिस जगह जिसकी आवश्यकता है उस जगह उसी

को लेना पड़ेगा, किन्तु 'रिअलिज्म् भी क्या चीज है भाई ? साहित्य में 'यथार्थवाद' नाम से किसी का अस्तित्व नहीं। जिसको तुम यथार्थ साहित्य कहकर ढोल बजाते हो वह यथार्थ का प्रतिबिम्ब है किन्तु और भी अधिक सुन्दर और मनोहर। साहित्य मन द्वारा उपभोग्य रस है, यह जलेबी नहीं है जिसका आस्वाद तुम जीभ द्वारा ले सको। यदि है भी तो इस जलेबी के सुदृश्य छन्दों को जो मन अपने नेत्रों द्वारा उपभोग कर सके—साहित्य-रस उसी के भाग्य की वस्तु है—छन्दों के रस की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, किन्तु मानसिक सत्ता है।' पार्थ ने कहा।

'अच्छा तो यथार्थ के साथ साहित्य का मेल कहाँ होता है ?'

'मेल होता है हमारे मन में; बाहर का वस्तु रूप हमारे मनोजगत के महासागर में जो तरङ्गें उठाता है, जो प्रतिबिम्ब प्रतिकल्पित करता है, साहित्य उसी की व्यञ्जना है। प्रतिबिम्ब वास्तव में सुन्दर होता है। नदी के जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखो, एक ही चन्द्र हजार-गुना होकर दीखता है। कलाकार उस छबि को अंकित कर दिखा सकता है, अपने मन की तूलिका बाह्य-जगत् की स्याही में डुबोकर उसको रूपायित करने की चेष्टा में वह अपने मन के रूप को ही रूपायित करता है। वह कलाकार-मानस जितना उन्नत होगी उसकी कृति भी उतनी ही उन्नत होगी। नहीं तो सुन्दर पुष्पित वन अथवा एक सुन्दरी नारी का एक आलोक-चित्र (फोटो-ग्राफ) संसार के श्रेष्ठ चित्रकार द्वारा अङ्कित-चित्र से अधिक मूल्यवान् होता। चित्रकार ने एक नारीमूर्ति अंकित की—खोजकर देख लो, संसार में उस प्रकार की नारी नहीं मिलेगी। फिर भी तुम्हारा मन उस पर मुग्ध होगा ही और उसके माधुर्य का भी अनुभव करेगा। ...ें तुम संसार का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी साहित्यकार कहकर

गर्व करते हो, उन्हीं से पूछो कि क्या उनकी कृतियाँ फोटोग्राफ ही हैं क्या ? वे कहेंगे, नहीं, यह उनके सत्य का कल्पनानुरञ्जित प्रतिबिम्ब है। सम्पूर्ण सत्य घटना लिखकर रसमय साहित्य की रचना अत्यन्त कठिन है। सत्य, सत्य की मान-मर्यादा कितनी ही पा ले किन्तु साहित्य की प्रतिष्ठा तब ही पा सकेगा जब कि कल्पना की आग में पका हो। ऐसा न होता तो पुलिस की रोमाञ्चकारी डायरी भी साहित्य बन जाता, सभी साहित्य-रचना कर पाते। मनुष्य साहित्य-सृष्टि करता है अपने मन की सामग्री लेकर और उसे पाठक के मन के अनुभव योग्य बनाकर। इस साहित्य-मिष्ठान्न को जो जितनी शोभा और माधुर्य दे सकेगा, वह उतना ही उच्च-श्रेणी का कलाकार माना जायगा, और उसका उसी तरह का विचार भी होगा।'

'तो साहित्य सत्य का परित्याग अथवा दुरुपयोग करता है ?' प्रसून ने जिज्ञासा की।

'नहीं वह सत्य का सदुपयोग करता है, कारण सत्य, सत्य ही है उसे विकृत नहीं किया जा सकता। वह चिरन्तन और शाश्वत है, किन्तु मानव-मन सत्य को मिथ्यान्धकार में अन्धेरी रात की दीप-पंक्ति के समान—और सीमाहीन आकाश की गोद में ससीम नक्षत्र के समान देखना चाहता है। नहीं तो सत्य की उसे ठीक अनुभूति नहीं होती, अँधेरे के बिना जैसे प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती, मानों प्रकाश उड़ा जाता हो और ग्रहण न किया जा सकता हो।'

चाय पीकर पार्थ ने फिर कहा, 'इस सत्य को पाने के लिए ही मनुष्य ने मिथ्या-जटित साहित्य रचा ताकि मन के अन्धकार-गगन में पूर्ण-सत्य नक्षत्र के समान जगमगाता रहे। साहित्य में सत्य का यही सदुपयोग है और सत्य को सुविकसित कर अपार

माया-महासागर में मानव को अति-मानवीय राज्य का दिग्दर्शन करा सकने में ही साहित्य की सार्थकता है। साहित्य मानव-समाज को बन्धु के समान आगे ले जायगा—सुन्दर के श्रीचरणों की छाया तले, महा-सुन्दर की शान्तिमय गोद की ओर।'

'अच्छा तो साहित्य में रस-सृष्टि क्या है ?'

'रस-सृष्टि है सुन्दर की उपासना सत्य और शिव की उपासना। विगत समाज और विगत जीवन का सौन्दर्य लेकर जैसे सुसाहित्य रचा जा सकता है; वर्तमान और भविष्यत् के सौन्दर्य को लेकर भी ठीक वैसे ही सत्साहित्य रचा जा सकता है। सुन्दर होने में ही उसकी सार्थकता है। कारण, मनुष्य का रस-ज्ञान सुन्दर से महा-सुन्दर के चरण-तल तक एक-धारा से एक-भाव से यातायात कर रहा है। सुन्दर होने से ही रस-सृष्टि होगी और मन आनन्द से रसोपलब्धि करेगा, अन्तर-देवता उसमें से महा-सत्य ले सकेंगे।'

शैतान ने कहा—'क्या यथार्थ की सहायता के बिना भी साहित्य-रचना हो सकती है ?'

'नहीं, नहीं हो सकती सर्प का भ्रम पैदा करने के लिये वास्तविक रस्सी की आवश्यकता है। रस्सी नहीं तो कहीं कुछ भी नहीं। और न सर्प-भ्रम ही होगा। मानव-मन उस स्तर को छोड़ आया है। एक समय उसने केवल कल्पना द्वारा ही साहित्य रचना की थी—वे सब रूप-कथा या परियों की कहानियाँ आज साहित्य-राज्य से निर्वासित-सी हैं। कारण सुन्दर की ओर अभियान करने में वे मन को अधिक सहायता न दे सकीं। अतएव कल्पना को विस्तृत यथार्थ मनोराज्य में स्थान नहीं मिला। किन्तु यथार्थ के अनुरूप कल्पना ठीक वैसे ही अक्षुण्ण बनी रही जैसे रस्सी में साँप की यथार्थ कल्पना रहती है। रस्सी

में सर्प-भ्रम के कारण हैं, मानव-मन का सर्पभय, आत्म-रक्षार्थ प्रयत्न, गतिवेग और स्पन्दन, किन्तु अबाध अवास्तव भ्रम-विहीन कल्पना के मूल में है शिशु-मानव के उनींदे मन को सुलाकर रखने वाला नशा—जड़त्व का उपकरण। जागृत मानव का मन उसकी अपेक्षा निर्भय रहता है, क्योंकि उसके लिए वह सर्प तो है ही नहीं, रज्जु भी नहीं है। उसे न भ्रम होता है न भय। जागृत मन नौ रसों में से एक का भी उपभोग नहीं कर पाता। किन्तु इस अबाध कल्पना को ही यथार्थ-सा बनाकर शाश्वत की रचना होती है और जो आबाल-वृद्ध-वनिता के लिए आनन्द-मन्दाकिनी की धारा के समान रहती है।'

प्रसङ्ग बढ़ा ही जा रहा था। पार्थ रुक गया, सभी चुप थे, समय अधिक हो गया, उन्हें जाना था। प्रवीर कमरे में आया, हाथ के कई ब्लॉक एक ओर रखकर चुपचाप बैठ गया।

'तुम्हारा एक पत्र है प्रवीर,—व्यक्तिगत पत्र'—कहकर पार्थ ने एक लिफाफा उसके हाथ में दे दिया—पता किसी स्त्री के हाथ का लिखा जान पड़ा। प्रवीर आश्चर्य में पड़ गया। उसने उसे खोलकर वहीं पढ़ डाला। बाद में पार्थ की ओर देखा, पार्थ मुँह नीचा किए कुछ लिख रहा था—उसने पत्र जेब में रख लिया।

नमस्कार कर सब चले गये। प्रवीर भी थोड़ी देर ठहरकर चला गया। पार्थ अकेला ही बैठा था।

'माँ बुलाती हैं'—दूसी ने द्वार के बाहर से ही कहा।

'माँ, क्यों री ?' पार्थ ने मुख उठाकर पूछा।

'मैं नहीं जानती—जल्दी जाओ—क्यों नहीं जानती ? पूछ नहीं सकती थी, कुलच्छिनी।' पार्थ ने उठते-उठते कहा।

'खबरदार गाली न देना, माँ से कह दूँगी—।' दूसी ने क्रुद्ध स्वर में तेजी से कहा।

'गाली कहाँ दी भाई, तू तो देखता हूँ बड़ी·······।'

'हाँ दी नहीं।—आओ—माँ बैठी हैं—।'

'चल तो, आता हूँ—माँ से न कहना लक्ष्मी, नाराज होंगी।' टूसी मुँह छिपाकर हँसी। पार्थ और टूसी माँ के पास आ खड़े हुए। माँ बैठी-बैठी कोई पोथी पढ़ रही थीं।

'क्या कहती हो माँ?'

'शाम को मैं एक बार काली-मन्दिर में जाऊँगी बेटा, तू घर में रहेगा तो?'

'संध्या को थोड़ी देर के लिये बाहर जाऊँगा मैं—आधे घंटे में ही लौट आऊँगा।'

'अच्छा तेरे आने के बाद मैं जाऊँगी। समय होगया, नहा-धोकर अब खाले।'

'टूसी को मैंने कुलच्छिनी कहा था, उसने तुमसे शिकायत तो नहीं की?'

'क्यों कहा। खबरदार कभी न कहना। वह मेरे घर की लक्ष्मी है।'

'देखा, कैसा मजा आया'—टूसी ने धीरे से उज्ज्वल मुसकान के साथ कहा।

'देखती हो माँ, देखती हो? तुम मुझपर चिल्लाती हो तो उसे बड़ी खुशी होती है।'

'खूब होती है—होगी नहीं। तुम मुझे दिन-रात गालियाँ क्यों देते हो?' टूसी ने ओंठ फुला कर कहा।

'देख टूसी, ये सब लँगड़े आम मैं अकेला ही खा जाऊँगा, तुझे एक भी नहीं दूँगा?'

'हाँ, नहीं दोगे—देखो माँ—बोलते हैं आम नहीं दूँगा।'

माँ ने दुबारा पोथी पढ़ना शुरू कर दिया था—क्रोधित होकर

बोलीं—क्या करता है पार्थ ! रहने दे टूसी, ये सब आम, मैं तेरे लिये एक टोकरी-भर और लाये देती हूँ—इस राक्षस को सब खा लेने दे। जा खा ले।

'खा नहीं पायेंगे माँ, केवल खराब करेंगे—तुम खाने को न कहो।'

'खराब करेगा तो फिर क्या खायगा ? जा स्नान कर बेटा, बहुत झगड़ा मत किया कर। यह तेरी कैसी आदत पड़ गई है ? हर समय उसके साथ बक-झक करता रहता है। तेल दे दे टूसी उसे।'

टूसी तेल लाने चली गई—पार्थ खड़ा-खड़ा हँसता रहा—बोला, उसके साथ झगड़ा न करने से मुझे अच्छा नहीं लगता माँ, आदत पड़ गई है।

माँ मुसकरा दीं। टूसी शीशी में तेल लाई और पार्थ के हाथ में उड़ेल दिया। पार्थ ने तेल सूँघते ही बुड़ककर कहा—कौन-सा तेल लाई है ?

'तिल का तेल क्यों ?'

'तिल का तेल मैं क्यों लगाऊँगा। जा सरसों का तेल ला।'

माँ ने मुख ऊँचा कर कहा—तिल के तेल से सिर ठंढा रहेगा दिन-रात लिखता-पढ़ता रहता है, तिल का तेल लगा ले वह तेरे ही लिये लाई है।

'इसमें सुगन्ध है जो माँ, सुगन्धित तेल मैं नहीं लगाऊँगा।'

'अच्छा शाम को अच्छा-सा निर्गन्ध तेल खरीद लाना, अभी इसी को लगा ले।'

पार्थ और कुछ नहीं कह सका। सिर में तेल लगाते-लगाते वह जल की कुण्डी के पास गया और चकित होकर बोला—पानी कहाँ है ? इतने पानी से मैं कैसे नहाऊँगा—माँ—आधे से

ज्यादा पानी खर्च कर दिया तुम्हारी मुँहजली 'लड़की' ने।

'नहीं माँ आधी कुण्डी जल भरा है इसमें तो तीन आदमी नहायेंगे।'

'क्यों तूने पूरी कुण्डी पानी नहीं रखा, दुष्टा, क्यों नहीं रखा बोल ?

'नहीं···नहीं रखूँगी—मैं नहाऊँगी नहीं क्या ? अकेले ही नहाओगे तुम, बड़े आये नहानेवाले !!'

'तू तो तड़के ही नहा लेती है उसके बाद शायद नल में पानी नहीं आता—क्यों, बोल न।'

'मैंने दुबारा स्नान जो किया है आज !'

'क्यों किया ?'

'मेरी मर्जी, खूब किया। तुम्हें क्या सब कैफियत देनी पड़ेगी ? इससे नहाना हो तो नहा लो, नहीं तो गंगाजी में नहाओ जाकर। गंगा-स्नान आदि सब कहाँ चला गया ? दिन पर दिन म्लेच्छ होते जा रहे हो !'

'देखो माँ एक थप्पड़ में तुम्हारी 'लक्ष्मी' को मैं चपटा कर दूँगा। देखो न, म्लेच्छ-फेच्छ जो चाहे कहती है मुझे।'

'क्या हो गया रे, तू मुझे मार लेगा बाबा। जा, बहुत पानी है; नहा ले—जा। नहीं तो गंगा में नहा आ।'—माँ ने आकर पार्थ से कहा !

'बहुत देर हो जायगी माँ '—टूसी ने करुण कण्ठ से कहा।

माँ हँस पड़ीं। बोलीं—जा बेटा नहा ले—

मुझे एक सौ आठ कलशी जल चाहिए माँ इतने पानी से कैसे नहाऊँ ? पार्थ निराशापूर्ण स्वर में बोला। टूसी गुस्सा होकर बोली—लेने दो माँ, ये कितना जल लेंगे—नहाओ, देखूँ कितना नहा सकते हो—कहते-कहते टूसी ने एक छोटी बाल्टी में पानी

भरकर पार्थ के शरीर पर डाल दिया। पार्थ ने उसी जगह बैठकर कहा—डाल गिन-गिनकर।

माँ नीरव हास्य के साथ बड़े यत्न से पाले हुए इन लता और पादप का प्रतिबन्धन देख रही थीं। पार्थ हाथों से शरीर धो रहा था और उसका पानी टूसी के सूखे कपड़ों पर डालता जा रहा था। टूसी अविराम बाल्टी पर बाल्टी जल डाले चली जा रही थी। एक, दो, तीन, चार, गिन गिनकर। माँ आकर फिर पोथी पढ़ने लगीं। स्नान शेष कर पार्थ बोला-अँगोछा दे नहीं तेरे आँचल से देह पोछूँगा। टूसी ने अँगोछा ला दिया। पार्थ ने देखकर कहा—अँगोछा। फट गया है कह नहीं सकती थी मुँह-जली—आँ? कहकर टूसी को अँगोछे की गोमटी बनाकर मारी। माँ मार रहे हैं—कहकर टूसी फफक उठी।

'ना, ना, मारा नहीं, बस थोड़ा सा अँगोछा छुलाया था, बाप रे। आजकल तो फूल के आघात से भी मूर्च्छित होती है, देखता हूँ!'

माँ ने चिल्लाकर कहा—'अँगोछे से ही क्यों तूने मारा उसे, दुष्ट कहीं का?'

'न मारने से उसकी पीठ 'सुड़ सुड़' करती है माँ—उसे भूख नहीं लगती।'—कहकर पार्थ ने टूसी के हाथ से धोती लेकर पहिना और बाद में बोला, ला अपना भात। खाने के बाद पार्थ रोज माँ के पास गपशप करता था। टूसी उसके आराम का प्रबन्ध करने के लिये आफिस में चली गई। कितना गन्दा पड़ा था। एक ओर झाड़ू से साफ कर वह बिछौना कर देती किन्तु आँचल का झोंका लगकर फूलदानी गिर गई। टूसी अस्फुट 'आह' कर उठी। वह रो उठी। इतनी सुंदर वस्तु उसकी असा-वधानी से टूट गई। कितनी साध से पार्थ कल ही तो इसे लाया

था। आते ही कहा था, 'रोज फूल ला दूँगा टूसी, सजा दिया करना।' और टूसी ने आज ही उसे तोड़ दिया। बिछौना लगाकर टूसी बाहर जा रही थी कि पार्थ कमरे में घुस आया, बोला—वाह! राजा साहब का पलङ्ग बिछ गया। टूसी ने धीरे से कहा—फूलदानी टूट गई मुझसे।

'जाने दे, और एक ला दूँगा, तू मुझे एक पान दे।' कहकर ही पार्थ बिछौने पर लेट गया। टूसी एक मिनट चुप खड़ी रही फिर पान लेने जा रही थी कि पार्थ उसकी ओर देखकर बोला—क्या हो गया री? रोती क्यों है?

टूसी खड़ी रही, दोनों आँखों में जल भरा था।

'तुम चिल्लाए नहीं, कुछ भी तो नहीं कहा?'

पार्थ एक छलाँग में बिछौना छोड़कर उठ खड़ा हुआ। और पुकारने लगा—माँ, ओ माँ, सुनो, सुनो, सुनो। माँ जल्दी आकर बोली—क्या हुआ लल्ला?

मेरे घर में आते ही टूसी ने कहा—'फूलदानी तोड़ दी है, मैंने कहा—'जाने दे—और एक ला दूँगा'—'चिल्लाया क्यों नहीं' इसी से रोती है—देख-देख लो माँ हँस, पड़ीं, टूसी भी हँस पड़ी। पार्थ बोला—जा, जा, बाहर जा; मैं अब मैं सोऊँगा—पान नहीं खाऊँगा—जा भाग जा।

पार्थ सो गया, माँ लौटने में सोच रही थीं टूसी को वह; जैसा बनाना चाहती थीं वैसी ही बनी है वह। स्निग्ध, प्रशान्त हँसी से उनका मुख चमक उठा।

९

हरी घास से ढकी जमीन के ऊपर आठ-दस व्यक्ति बैठे थे। चाय के साथ वे बतरस भी चख रहे थे। सभी थे- अरुण, तरुण,

शचीन; जयन्त, निखिलेश, निर्म्मल, विजय, अशोका। एक ही नारी को केन्द्र करके वे कितनी ही बातें बना रहे थे। प्रत्येक की बात में अशोका की स्तुति प्रतिध्वनित हो रही थी। अशोका भी जैसे ऊब रही थी।

निर्म्मल ने कहा—मद्रासी साड़ी की एक नई डिजाइन निकली है आपको बहुत अच्छी लगेगी।

शचीन बोला—वे तो जो पहिन लेती हैं वही अच्छा लगता है—यहाँ तक कि खद्दर भी—

जयन्त बोला—सचमुच, उस दिन गेरुआ रंग का खद्दर आपको 'तापसी' जैसा लग रहा था।

अशोका ने कहा—तो फिर 'तापसी' कैसी दीख पड़ी आपको ? देखती हूँ अभी से श्रद्धा भी करने लगे हैं ?

जयन्त इस व्यङ्गोक्ति से कुछ कुम्हला गया। प्रसून ने प्रवेश किया। अहा प्रसून हैं क्या—अशोका का भाई विजय बोला, 'बहुत दिनों से नहीं आये भाई ?'

'कुछ कार्यों में व्यस्त था दादा, आप लोग सब अच्छे तो हैं ?'

'हाँ, किन्तु आप तो अब बड़े 'ग्रामीण' होगये हैं।' अशोका ने इशारा किया।

'ग्रामीण अभी हुआ नहीं मिस् लाहिड़ी, हो जाता तो गौरव अनुभव करता !'

'अरे बस ! स्वदेशी की झोंक है तो खद्दर पहिनिए, ये पतले कपड़े क्यों ?'

'तीन आने के कपड़े के लिये तेरह आने देकर खद्दर की विलासिता करने का मोह और विलायती पोशाक पहिने देशी लड़की का आकर्षण मुझे अब नहीं रहा मिस् लाहिड़ी,—खद्दर

बड़े आदमियों की सभा में जानेवाली पोशाक है, जापानी सूत से तैयार की हुई चिकनी, मुलायम और सुन्दर पोशाक श्रीमतियों को ही शोभा देती है—और मेरा कपड़ा यहीं के जुलाहों का बुना है।'

'अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि विलायती पोशाक पहिने देशी लड़की भी ठीक खद्दर ही के समान विलास की वस्तु है।' अशोका ने तीक्ष्ण स्वर में कहा।

'हाँ, शान्त स्वर से प्रसून ने उत्तर दिया। गोष्ठी के और सब लोग इस रस-भङ्ग से कुछ चकित–से हो उठे। प्रसून ने प्रसंग बदलकर कहा, 'इस महीने के 'विहाग' में आपकी कविता पढ़ी थी।'

'अच्छा! तभी, याद आई तो—मिलने चले आये। धन्यवाद, कैसी लगी कविता?'

'अच्छी है।' कहकर प्रसून ने चाय का प्याला मुँह से लगा लिया।

पार्टी के और सब लोगों ने अब स्वस्ति की साँस ली, जैसे बच गये हों। कविता वे बिलकुल नहीं समझते थे, अथच आलोचना में सहयोग न दे सकने पर चुप रहना पड़ेगा। अतः वे मन ही मन प्रस्तुत होने लगे। अशोका ने कहा—अच्छा प्रसून बाबू 'वैजयन्ती' में तो आप लिखते हैं, उसमें मेरी एक भी कविता नहीं छप सकती क्या?

'चेष्टा करिए, किन्तु उनका निर्वाचन बहुत कड़ा है। पार्थदा स्वयं ही निर्वाचन करते हैं।'

'तुम तो दिन-रात पार्थ-पार्थ रटते हो—पार्थ कौन है?' पूछा अशोका के भाई विजय लाहिड़ी ने।

'इस 'वैजयन्ती' के सम्पादक हैं वे दादा।' अशोका ने कहा—'अच्छा वे अकेले ही सब देखते हैं? या और भी कोई है?'

'अन्तिम निर्वाचन वे ही करते हैं, उनसे पहिले प्रवीर भाई और मैं देखकर उन्हें छाँट लेते हैं जो छप सकती हैं, किन्तु पार्थदा का निर्वाचन ही अन्तिम होता है।'

अरुण ने कहा—अच्छा आप लोग जो कविता करते हैं—उससे क्या लाभ होगा ?

चाय का प्याला समाप्त कर प्रसून ने कहा—क्या होगा माने ? क्या नहीं होगा, यह कहिए-कविता मानव-मन की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। आपको यह प्रश्न करना चाहिए कि कविता द्वारा क्या नहीं हो सकता ?

देशोद्धार होगा उससे ? अरुण ने पूछा।

निश्चय ही होगा—आज, भी हमने कवि का सम्मान करना नहीं सीखा, इसीलिये यह दुर्दशा है। जानते हैं पोलैण्ड के एक व्यक्ति ने उस दिन क्या कहा था ?

'क्या कहा था ?'

'सुनिए, प्रसून ने पाकेट से एक नोट बुक बाहर की। बोला-पार्थदा के पास मूल लेख है, मैंने केवल सारांश नोट किया है, सुनिए—

पोलिश-काव्य पर भाषण

रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के एक कक्ष में १० अप्रैल १९३९ ई० को मि० एलेक्जेण्डर जनता पी० एन० पोलिश सेन्टर के सदस्य और पोलिश-साहित्य-विद्यालय के योग्य वक्ता ने आज पोलिश काव्य पर भाषण दिया। उसका सारांश निम्नलिखित है—

'हमारा निश्चय निराश होकर अधिकारों को छोड़ देना मात्र नहीं है जिसके लिये पोलैण्ड के पुत्रों की आत्मा प्रशंसा पाती है,

जिन्होंने हम लोगों के समक्ष उत्साहपूर्वक, निश्चिन्त होकर अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है।'

'यद्यपि वह सब कविता के लिये नहीं किया गया था बल्कि कवि भावुक था जिसने उसका अनुभव किया और राजनैतिक विचार-धाराओं को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। उन दिनों का साहित्य आनेवाली पीढ़ियों को इतिहास बताता है। यह एक निश्चित प्रकार के साहित्य का चिह्न और स्तर है। इस प्रकार की साहित्य-रचना जो हम पोलैण्ड में पाते हैं यह कवि का व्यवसाय नहीं है वरन् कवि बरबस ही जीविकोपार्जन के लिये धन पा जाते हैं। कवि कमरे में बैठे-ही-बैठे लोगों की रुचि, जनकथा, दर्शन आदि का आभास पा जाते हैं और उसी को लिखते हैं जिसके लिये उन्हें अपने देश से आदर और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता है।'

'पोलैण्ड ने न केवल अपने देश की, रक्षा की बात को और स्वतन्त्र इच्छाओं को समक्ष रक्खा बल्कि अपनी भौतिक उन्नति को भी प्रस्तावित किया और यह सब कवियों के द्वारा ही सम्भव हुआ। जब एक ओर वह काव्य सर्वदा रक्षात्मक है तो दूसरी ओर जीवन के लिये संकेत भी है और साथ-ही-साथ सांस्कृतिक-उन्नति के लिये दायी, जो अपने राष्ट्र के लिये अनुभूति का प्रशस्त मार्ग है।'

'सुना, कैसा महान् सम्मान् वहाँ के कवि को दिया जाता है? और आप लोग करते हैं ठट्ठा, व्यंग और विद्रूप। इस देश का कवि होना जैसे पाप हो। पार्थदा कहते हैं, 'इस देश के लोगों के मन का मेरु-दण्ड टेढ़ा हो गया है, ठीक बात है।'

'आपके पार्थदा जो कहें, वही क्या ठीक बात है?' अशोका हँस उठी।'

'हाँ, बेठीक बात वे कभी नहीं कहते।'

'एक प्याला चाय और दीजिए बड़ी प्यास लगी है।'

'अपने पार्थदा को एक दिन ला नहीं सकते प्रसून, मैं भी देखता।' विजय ने कहा।

'आवेंगे नहीं—बड़े आदमियों का निमन्त्रण प्रायः वे स्वीकार नहीं करते। चाय दीजिए,, नहीं तो चला जाऊँगा ?'

अशोका हँसती हुई चाय ढालते-ढालते बोली—पार्थ बाबू, जान पड़ता है आपके सहपाठी हैं ?

'उनका सहपाठी कौन हो सकता है ? हाँ हम लोग एक क्लास में पढ़ते थे।'

'तब भी सहपाठी नहीं हुए ! आश्चर्य ! अच्छा तो सहपाठी किसे कहते हैं फिर ?'

'इसके माने हैं कि हम लोग जब आई. ए. में पढ़ते थे तब वे आई. ए. क्लास में रहकर भी एम. ए. की पुस्तकें पढ़ते थे। बराबर फर्स्ट हुए, परीक्षक लोग भी आश्चर्य में पड़ गये।'

सभी प्रसून की ओर देखने लगे; सभी के चेहरों पर विस्मय की छाप थी।

'इतनी अच्छी तरह पास किया है तो अच्छी नौकरी क्यों नहीं पाई ?' शचीन ने कहा।

'यही तो आप लोगों की दास मनोवृत्ति है। जानते हैं पार्थदा से प्रोफेसर होने का अनुरोध किया गया, उन्होंने कहा—'विद्या दान करके अर्थ नहीं लूँगा, माँ का आदेश नहीं है।'

'आप लोग उनके विषय में कितना जानते हैं ? रहने दीजिए, आप लोग उन्हें नहीं पहिचान सकेंगे। अच्छा, मैं अब चला, नमस्कार।'

प्रसून चला गया। अशोका उसके पथ की ओर ताकती ही

रह गई। शचीन बोला—लड़का बिलकुल मूर्ख है, उस पार्थ-'चन्दर' ने ही उसका सिर फिरा दिया है—अशोका ?

अशोका ने मुड़कर शचीन की ओर देखा—क्यों ?

'इस तरह देख क्यों रही हो तुम, क्या हो गया तुम्हें ?'

अशोका एक दीर्घश्वास दबाकर रह गई। इसी शचीन के साथ उसकी शादी होगी ! वह अभी से उसकी वाग्दत्ता है। किन्तु उसके साथ उसके मन का कितना मेल है ?

क्लान्त दृष्टि नीचे की ओर करके अशोका ने धीरे से उत्तर दिया—नहीं, कुछ नहीं हुआ।

विजय बाबू बोले—तबीयत ठीक न हो तो भीतर जा न ! सो जा !

'ना, दादा, कुछ नहीं हुआ मुझे' कहकर अशोका एक मासिक-पत्र के पन्ने उलटने लगी, धीरे-धीरे ! तभी चित्रा गाड़ी से उतरी। चित्रा के नमस्कार करते ही अशोका उत्फुल्ल हो उठी—'ओहो, चित्रा है क्या ! सौभाग्य ! अच्छी खबर है न !'

'हाँ तेरे साथ कुछ 'प्राइवेट' बात है, जरा उधर चलना !'

अशोका चित्रा को अपने कमरे में ले आई। हँसकर बोली—

'क्या इतनी 'प्राइवेट' बात है—किसी के प्रेम में पड़ गई है क्या ?'

'नहीं भाई, कविता-प्रेम में पड़ गई हूँ, इसीलिये तेरी शरण में आई हूँ, आश्रय दे मुझे !'

'दिया, बोल क्या करना पड़ेगा—झट बोल क्या छपाना होगा ?'

'हाँ, किन्तु मेरी कविता नहीं, अपनी ही छपानी होगी—'वैजयन्ती' पत्र में।'

'पार्थ बाबू की 'वैजयन्ती' में ? वह तो बड़ा कठिन है री ?'

'क्यों तू उसे नहीं जानती है, क्या वह नहीं छापेगा ?'

अशोका ने कुछ सोचकर कहा—छापेगा या नहीं, यह नहीं जानती, किन्तु क्यों, बोल तो ?

'वह मेरा अपमान कर गया है—कह गया है वह किसी स्त्री का स्पर्श नहीं करता, वह स्त्रियों को कुछ नहीं मानता, वह स्त्रियों के पास नहीं बैठता—उसका घमण्ड मैं तोड़ूँगी ही।'

'ऐसा है ? जान पड़ता है तू उसके पास बैठने गई थी ?'

'हाँ, वह कूदकर उठ गया'—चित्रा रुआँसी होकर बोली—'इस अपमान का प्रतिशोध मैं लूँगी ही—चल तू।'

'किन्तु मेरा भी यदि अपमान कर दे तो ?'

'कर नहीं सकता। उसकी अनुपस्थिति में एक अच्छी सी तेरी कविता दे आऊँगी। छप जाने के बाद तू बातचीत बढ़ाना। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके आगे बढ़ना, प्लान मेरा पहले से सब ठीक किया हुआ है।'

१०

'निखिल भारतीय-मानव-सम्मेलन' था।

पन्द्रह से लेकर तीस सालतक के लड़कों से मैदान भरा था।

'अच्छा हम लोगों के प्रेसीडेन्ट कौन होंगे ?' एक व्यक्ति ने पूछा।

'क्यों ? पार्थदा ! प्रवीर-दा सेक्रेटरी और प्रसून जॉइन्ट सेक्रेटरी।' दूसरे ने उत्तर दिया।

'ठीक है। पार्थदा तो अभी नहीं आये—प्रवीर-दा अकेले ही आ रहे हैं।'

'ठीक समय पर वे अवश्य आवेंगे—उनकी बात कभी नहीं टलती।'

वे सब चुपचाप बैठे हैं। शुरू होने में पन्द्रह मिनट बाकी हैं। एक ने पूछा, 'पार्थदा के साथ प्रवीर-दा जैसे हरि-हर की जोड़ी हैं—न भाई ?'

'हाँ, एक ही कालेज में पढ़ने से परिचित थे।'

'बन्धुत्व हो गया कहिए, परिचित क्यों ?'

'नहीं, बन्धुत्व बाद में हुआ। प्रवीर-दा पहले एम. ए. में फेल हो गये थे। पार्थदा ने आकर कहा—जरा अच्छी तरह क्यों नहीं पढ़ा भाई—सुनकर प्रवीर-दा गुस्से में लाल होकर बोल उठे। आपका क्या बनता बिगड़ता है इसमें ?' पार्थदा करुण कण्ठ से बोले, 'मेरा भी कुछ बनता-बिगड़ता है भाई, मेरे समान आप भी अपनी माँ के एक-मात्र लड़के हैं, आज उनके हृदय में कितनी वेदना होगी।' बस इतना सुनना था कि प्रवीर-दा की आँखों में आँसू आ गये। उठकर वे पार्थदा के हृदय से चिपट गये, बोले—'खूब शिक्षा दी, तभी से वे मित्र हैं।'

'पार्थदा सचमुच महान् हैं, अद्भुत मनुष्य हैं।'

'महान ! जानते हो वे आजीवन ब्रह्मचारी और क्षमा के अवतार हैं। एक बार एक लड़के ने उनसे ईर्ष्या की—माने, वह कभी फर्स्ट नहीं हो सका इसलिये—पार्थदा के बिछौना पर परीक्षा के पहले दिन एक केंकड़ा छिपाकर बाँध दिया। पार्थदा के सोते ही उसने काट खाया। हम सब लोगों ने खोज लगाकर लड़के को पकड़ लिया—सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब से शिकायत की। उसे दण्ड मिलेगा, परीक्षा नहीं दे पावेगा सुनकर पार्थदा दौड़े-दौड़े गये सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के पास, और बोले—मेरी कोई शिकायत नहीं है, मेरे मित्र ने मजाक किया था—उसकी शिकायत करूँ तो भाई-बहिनों की भी शिकायत करनी चाहिए। जिसके ऊपर

कोई अभियोग नहीं उसको दण्ड क्यों मिलेगा? सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने अपराधी को छोड़ दिया।'

'विचित्र मनुष्य हैं।'

'इस प्रकार की कितनी ही घटनाएँ हैं उनके जीवन में। यह लो पार्थदा आ गये।—सम्मिलित आनन्द-ध्वनि के बीच पार्थ ने आसन ग्रहण किया। तालियाँ थमने पर प्रवीर और प्रसून आदि दो-चार व्यक्तियों ने व्याख्यान दिये इस सभा के उद्देश्य और कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में। उद्देश्य था, मनुष्य को गढ़ना, मनुष्य के मन में जो महा-मानव का प्रकाश अविराम प्रतिबिम्बित हो रहा है—नदी-तालाब में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान और दुनियाँ की लोभ-काम-मोह की माया-विभूतियाँ जिस प्रकाश को अबाध गति के साथ फैलने से रोकती हैं—यह सभा उन्हीं रुकावटों को हटाकर नवजीवन में नवीनालोक की अक्षय-ज्योति लावेगा, जो ज्योति महाकाल की भ्रू कुटि चढ़ने पर भी भ्रू-क्षेप नहीं करेगी। एक शब्द में, मानव के सभी महान् गुणों को उत्कृष्ट कर वे महा-मानवत्व में प्रतिष्ठित होना चाहते हैं—यही है उनका आदर्श। तुच्छातितुच्छ पार्थिव जीवन की ग्लानिपूर्ण अस्वच्छता से वे मुक्ति चाहते हैं। वे चाहते हैं कालुष्यहीन पवित्र मानव जीवन। उनकी स्वाधीनता की 'वैजयन्ती' उनके हृदयाकाश में ही उड़ेगी। इसके लिए जिस कठोर नियम-निष्ठा की आवश्यकता है वह उनके सभापति में है, इसी कारण उनका विश्वास है, उनकी प्रतिज्ञा है कि उनमें से प्रत्येक सभापति का आदर्श लेकर आगे बढ़ेगा।

फिर पार्थ उठ खड़ा हुआ, समस्त सभा सभापति की गुरुत्व-पूर्ण वाणी निःशब्द होकर सुनने लगी—'मेरे प्राण-प्रिय भाइयो! —पार्थ ने उदार कण्ठ से शुरू किया—हमारे इस महा-मानवक-

सम्मेलन के उद्देश्य का आप सबको पता ही है। मुझे आज आशा है कि जो लोग यहाँ उपस्थित हैं वे अनुपस्थित लोगों को इसका ज्ञान करायेंगे, हमारा उद्देश्य दिवालोक-सा सुस्पष्ट है। आत्मशक्ति में विश्वास खो बैठने के कारण भारत के असंख्य युवक आज पथभ्रष्ट, कर्तव्य-भ्रष्ट और अधर्मी हो गये हैं। जो मानव-धर्म युग-युगान्तर से आदर्श होता आया है मानव-मन में विवेक रूप ईश्वर मनुष्य को जिस कर्तव्य की प्रेरणा देते हैं आज भूतल से वही धर्म, वही विवेक, वही आदर्श लुप्त होते जा रहे हैं। इसके बदले में राज-तन्त्र, गण-तन्त्र, समाज-तन्त्र, स्वेच्छा-तन्त्र, इत्यादि हजारों प्रकार के तन्त्रवाद हमारे मन में अंकुरित हो उठे हैं। इनका अन्त आवश्यक है। मानव को सबसे पहिले मनुष्य बनना है पीछे और कुछ। मनुष्य का आकार धारण करके भी मारकाट, लूटपाट, ईर्ष्या, द्वेष, भय, घृणा इत्यादि पशु-वृत्तियों के ऊपर जब तक विजय नहीं होती, तब तक मनुष्य स्वाधीन नहीं हो सकता और श्रेष्ठ स्वाधीन देश में रहकर भी वह चिर-पराधीन और मनुष्यत्व से चिर-वञ्चित ही रहेगा। आधुनिक युग में स्वाधीनता का अर्थ किया जाता है, देश की शासन-सत्ता देश-वासियों के हाथ में देकर सुख और स्वच्छन्दता के साथ खाने-पीने की व्यवस्था करना। किन्तु मानव-मन केवल इतनी स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट नहीं होता। खाने-पहिनने की आवश्यकता है हमें, किन्तु अतीव साधारण, केवल उसी के लिये इतनी तनातनी, मारकाट और ऐसा ताण्डवनृत्य क्यों? कौन इस बात को सोचता है? राष्ट्रीय स्वाधीनता की आवश्यकता को मैं अस्वीकार नहीं करता किन्तु उससे पहिले चाहता हूँ आत्म-स्वाधीनता, नहीं तो हम प्रजा के सन्तोष के लिये सीता को निर्वासित करने जैसा दुःसह दुःख सह न सकेंगे। दुःख के आघात में भी दूसरे के प्रति अपना

कर्तव्य निभाना हम भूल ही जायेंगे। अपने स्नेह की स्वार्थ-परता से दूसरे को वञ्चित करने का दुष्कृत्य हमारे हृदय को निगल जायगा—इसीसे मैं चाहता हूँ आत्म-स्वाधीनता। जो निर्लज्ज कामित्व दशानन रावण के समान मानव के देवत्व को नष्ट करना चाहता है, हम लोगों की पहली लड़ाई उसी के साथ है।

आत्म-स्वाधीन व्यक्ति को कोई भी ठग नहीं सकता, कारण उसे प्रलोभन नहीं होता, कोई मोह उसे जीत नहीं सकता। उसके अपने अधिकार से बाहर की वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, वह मुट्ठी भर धूल के समान उसे त्याग कर सकता है और त्याग की यह शक्ति ही उसकी सब आकांक्षित वस्तुओं को एकत्र कर देगी। जो आत्म स्वाधीन नहीं हैं, वे नेतृत्व करने के अयोग्य हैं। किन्तु त्याग का ढोंग करके वे करोड़ों सरल मनुष्यों को बेवकूफ बनाकर अपना कार्य साध सकते हैं भारत में ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। इस देश में कामी, लोभी, ईर्ष्यालु धूर्त मनुष्य साधुता का बाह्याडम्बर दिखाकर असंख्य नर-नारियों के गुरु बने बैठे हैं! शिष्यों के कष्टोपार्जित अर्थ से दिन पर दिन उनकी तोंद बढ़ती जा रही है और अबोध शिष्य मण्डली पारलौकिक या ऐहिक आनन्द-प्राप्ति के लिए उन्हीं के चरणों पर अयाचित भक्ति समर्पित करती है। इस लोभ की मूर्खता ही उन्हें इतनी आसानी से ठगती रहती है।

समाज में, संसार में, राष्ट्र में कहीं भी आज जन-साधारण का उद्धार नहीं। परम विश्वास के साथ जिन्हें नेता के सम्मानित आसन पर बिठाइए, कल वे ही पार्टी-बन्दी और निजी मतलब के लिए कूटनीति चलते हैं। विश्वास-घातक कहकर आज जिन्हे निकाल दिया जायगा, कल वही विश्वासपात्र बनकर फिर अपना ही मतलब साधते हैं। वे ही लीला आज सर्वत्र खेली जा रही है।

जिनके साथ युद्ध करने के लिये वे उपवास आदि आध्यात्मिक अस्त्रों का प्रयोग करते हैं, उनकी मनुष्यता के द्वार पर दया माँगते हैं जिन्हें वे हराना चाहते हैं, उन्हीं से ही वे कहते हैं, दया करके शक्ति दो ताकि तुम लोगों को यहाँ से भगा दें। इससे अधिक हास्यकर युक्ति और क्या हो सकती है। हम जानते हैं कि पुत्र भी माँ के पास इस प्रकार का हठ नहीं करता। मुट्ठी-भर बुद्धि-जीवी आज हमारे सरल मन पर शासन करते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।

कहाँ है उनकी साधना की एकाग्रता? कहाँ है उनमें आत्म-निष्ठा? हम जो सम्मिलित मानवक-संघ-संगठन करना चाहते हैं, उसका प्रत्येक व्यक्ति मनुष्यत्व का अधिकारी, आत्म-स्वाधीन और देव-व्रत-चारी होगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक शासन आत्म-निर्माण के साथ-साथ ही जीवित रह सकते हैं। जो पूर्ण मानवत्व में प्रतिष्ठित है उसी के लिए अधिकारलोलुपता तुच्छ चीज होती है। हजारों वर्षों से सञ्चित पराजित मनोवृत्ति और परानुकरण-प्रियता के अभिशाप और सन्ताप, एक ओर हीनतम दरिद्रता से त्रस्त और दूसरी ओर अन्धी ऐयाशी में मस्त अभागे देशवासी फिर एक बार भीष्म के समान अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हों, यही मेरी कामना है।'

सभा समाप्त हो गई। बहुत से युवकों ने पार्थ की बातों का समर्थन किया। आत्म-सुधार की प्रतिज्ञा की। सदस्यता के नियम थे, जीवन के पहले बीस वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य-पालन। जिस कार्य में उनका विवेक सहमत न हो, उसे किसी प्रकार भी न करना, सत्य और त्याग के लिए, नियम-निष्ठा के लिए प्रतिक्षण मृत्यु का भी वरण करने के लिए प्रस्तुत रहना। मानवता के विरोधी किसी भी कार्य को अपने द्वारा कभी न होने देना, मानव-धर्म से भ्रष्ट

होते ही संघ को छोड़ना। संक्षेप में अपने को मन-कर्म-वचन से मानव-व्रत-चारी बनाना।

सम्मेलन समाप्त होने के साथ ही पार्थ घर चला गया—उसे कुछ काम था। प्रवीर भी आवश्यक कुछ कागज-पत्र ठीक कर और प्रसून को समझा-बुझाकर बाहर चला गया। प्रवीर का मुख विचित्र प्रकार से चिन्तित था। वह इतनी तेजी से चल रहा था कि जैसे कुछ कहीं पर छूट गया हो। कभी-कभी बीच में रुक जाता, फिर चल पड़ता, और उसकी गति फिर मन्द पड़ जाती थी। बालीगञ्ज की ओर जानेवाली ट्राम में प्रवीर बैठ गया। रिक्त मैदान के ऊपर गंगाजी की हवा उसके माथे को छू रही थी और शान्ति का प्रसाद बाँट रही थी। प्रवीर कुछ प्रकृतिस्थ हुआ। जेब से कल की मिली चिट्ठी बाहर की और उसे फिर एक बार पढ़ा। तह करके पत्र जेब में रख लिया—क्यों बुलाया है उसने ? क्या कारण हो सकता है इसका ? प्रवीर अपने आप से बातें करता रहा। पार्थ को कहने से मना क्यों किया, इसका क्या उद्देश्य है। प्रवीर वहाँ न जाय क्या ? न जाना ही अच्छा है, पार्थ को बताए बिना आज तीन वर्ष से उसने कोई भी काम नहीं किया। प्रवीर वहाँ नहीं जायगा। प्रवीर उतर जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। किन्तु शायद उसको बहुत जरूरी काम हो, शायद कोई जीवन-मरण की समस्या हो, ""अच्छा चला ही जाय—देखा जाय क्या काम है। प्रवीर फिर बैठ गया।

सिप्रा के सभी मित्र उपस्थित थे, केवल अजय नहीं आया था। सिप्रा भी कुछ खोई-सी बैठी थी। मित्रगण अनेक प्रकार की बातें कर रहे थे। सिप्रा चुपचाप सुन रही थी, किसी विषय में भी सिप्रा कुछ नहीं बोल रही थी—वह बार-बार गेट की ओर ताक रही थी।

'वही तो, मिस् चटर्जी का मन अजय के लिये बड़ा भारी हो उठा है'—अरुण बोला।

'ओः, इसीलिये बहुत बार गेट की ओर ताक रही हैं ?' अतनु ने टिप्पणी की।

सिप्रा केवल मुस्करा दी, कुछ बोली नहीं। उसके गालों पर लज्जा की लालिमा न देख सभी विस्मित हो गये। सिप्रा ने स्पष्ट बतला दिया है कि वह अजय से प्रेम करती है या नहीं ? वे कुछ समझ नहीं पाये। सिप्रा की मुख-मुद्रा फिर गम्भीर हो उठी।

मित्रगण सोचते थे, अजय ही सिप्रा से शादी कर सकेगा, यह बात प्रायः सभी जानते हैं किन्तु वाग्दान न होने तक चेष्टा करने में हर्ज ही क्या है। उनकी भूल भी तो हो सकती है ? शायद सिप्रा उन्हीं में से किसी एक को चाहती हो, शायद अजय की दाल न गले। अजय के सम्बन्ध में और अधिक जानने के लिये एक ने पूछा—मि० राय क्या आज न आने के लिए कह गए हैं मिस् चटर्जी ? सिप्रा उस समय बँगले की ओर मुख बढ़ाकर देख रही थी कि कौन गेट में घुसा।

'मि० राय आ गये हैं शायद ?' मित्रों ने पूछा।

सिप्रा जवाब न देकर मुसकरा दी। उसी समय बाहर भी चली गई। सभी क्षुब्ध हो उठे। यह कैसी बदतमीजी ! कोई जवाब ही नहीं। कौन ऐसा आ गया जिसे साथ लेकर सिप्रा ऊपर चली गई। अजय तो कभी ऊपर नहीं जाता। कोई निकट आत्मीय है शायद ! चलो, हम लोग भी घूम आवें। वे लोग चले गये। सिप्रा ने प्रवीर को ऊपर ले जाकर कोच पर बैठा दिया—थोड़ी चाय ले आऊँ। प्रवीर स्थाणुवत् बैठा रहा। सिप्रा ने आकर चाय दी। आपको कष्ट दिया है, क्षमा करिएगा किन्तु मुझ पर बड़ी आफत आ गई है।

'कहिए क्या विपत्ति है आपकी—यदि साध्य होगा तो.......'

'हाँ साध्य आपके द्वारा ही है' अस्फुट कुसुमित-हास्य के साथ सिप्रा ने कहा।

'यदि होगा तो मैं निश्चय ही आपकी सहायता करूँगा।'

'वचन देते हैं न ?'

'हाँ, वचन देता हूँ।'

सिप्रा ने उसके चाय पी लेने तक प्रतीक्षा की, अपना खाली प्याला रख दिया। वह अपने मन में सभी चालें सोचकर आगे बढ़ी—'कवि होकर नाम पाने की दुराकांक्षा मेरे मन को शीर्ण किए दे रही है, प्रवीर बाबू—।'

'अच्छा तो है—आप कविता लिखिए, नाम पाना असम्भव नहीं है।'

'यही तो मैं नहीं कर सकूँगी, एक हजार कविता बाप रे बाप!' सिप्रा सुमिष्ट हँसी हँसकर बोली।

'कविता बिना लिखे ही आप कवि-यश कैसे प्राप्त करना चाहती हैं।'

'मैं अधिक तो चाहती नहीं, केवल मेरे नाम से एक आध कविता न निकलने से ही मेरा उत्साह मन्द पड़ रहा है—आप इसकी व्यवस्था कर दें, बड़ी कृपा होगी......'

'दूसरे पत्रों में शायद छप जाय—पार्थ तो नहीं छापेगा—उसके साहित्य-मन्दिर में साधना-हीन व्यक्ति के लिये कोई भी स्थान नहीं मिल सकता!'

'अच्छा, आपकी तो साधना है, आप ही मेरे लिये कुछ कर दें' सिप्रा ने प्रवीर के मुख की ओर ताका आँखों से ही रूप—निर्झरिणी छिड़क दी। मौन भाव से ही प्रवीर ने वह रूपामृत आँखों से पी लिया। कुछ क्षण बाद सँभलकर कहा—

'मैं क्या कर सकता हूँ—अनुरोध वह कुछ भी नहीं मानेगा, कर्तव्य-पालन में अत्यन्त निर्मम है वह !'

'यह जानती हूँ, किन्तु आप तो मेरे बनकर एक कविता लिख दे सकते हैं।'

'मैं लिख दूँगा ! वह तो मेरी रचना होगी ?'

'हो, किन्तु मेरे नाम से निकलेगी, पार्थ बाबू नहीं जान पाएँगे, कोई भी विश्व में नहीं जानेगा—मेरे लिये छपाने योग्य एक कविता लिखनी ही पड़ेगी आपको !'

प्रवीर जवाब न दे सका। मायामयी 'नारी' उसको किस प्रकार फन्दे में फँसा रही थी, यह समझकर भी वह मना न कर सका। सिप्रा ने बड़े हठ-पूर्ण स्वर में फिर कहा—क्यों, नहीं लिख सकेंगे आप ? आपने तो वचन दिया था अभी। एक लिख दीजिए, न लिखने से मैं आपको किसी तरह न जाने दूँगी आज !

प्रवीर सोच नहीं पाया। क्या कहता बेचारा ! अनेक क्षण दम लेकर बोला—सिर्फ एक कविता छाप देने से ऐसा क्या लाभ होगा सिप्रा देवी—व्यर्थ ही......

'मेरी सिर्फ एक तमन्ना है और वह—नहीं—सार्थक ! यह कि पार्थ बाबू जान लें कि मेरे भी 'कवि-हृदय' है। इसी में मेरे जीवन की सार्थकता है। मैं कवि नहीं हूँ, यह ठीक है प्रवीर बाबू, किन्तु पार्थ बाबू, से उपेक्षित होकर मैं बचूँगी भी नहीं। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ—मुझे सिर्फ एक अच्छी कविता दे दीजिए उसके विनिमय में आप जो चाहे, दे सकती हूँ !'

'किन्तु पार्थ तो आपसे नाराज नहीं, आप यह सब क्यों करती हैं ?'

'हाँ वे नाराज हैं। उनके पास जाने लायक मेरा मुँह नहीं रहा

है । सब बातें मैं आपसे कह नहीं सकती प्रवीर बाबू, आप पूछिए भी नहीं, मेरी यही प्रार्थना है ।'

प्रवीर विस्मित होकर सोचने लगा, सिप्रा ने ऐसा क्या किया है, जो पार्थ उसके ऊपर नाराज है । पार्थ का सिप्रा से इतना आन्तरिक सम्बन्ध है क्या ?

सिप्रा ने विनय की अन्तिम-सीमा में रुदनमय स्वर डालकर कहा—नहीं देंगे प्रवीर बाबू ? इसके लिए मैं अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकती हूँ ।

म्लान और करुण हँसी के साथ प्रवीर ने कहा—आपका सर्वस्व आपके पास नहीं रहा, वह तो आप पहले ही दान कर चुकी हैं ।

'अच्छा, आपकी दया भिक्षा सही भीख दीजिए मुझे ? प्रवीर अब भी चुप था । घड़ी की सुई आगे बढ़ रही थी ।'

'यदि नहीं देते प्रवीर बाबू तो मुझे कल सुबह आप जीवित नहीं पाएँगे ।'

रुआँसी-सी सिप्रा दूसरी ओर के जँगले के पास जा खड़ी हुई । प्रवीर चौंक पड़ा । बोला—छिः छिः, आत्महत्या महापाप है । पार्थ सबसे अधिक घृणा आत्महत्यारे से करता है ।

सिप्रा बड़ी तेजी से उधर आकर बोली—मैं उनकी घृणा ही संचित करूँगी प्रवीर बाबू, स्नेह पाने की योग्यता मुझमें कहाँ है ? घृणा करके ही वे मुझे याद तो करें ! मैं उनके हृदय में जीवित रहना चाहती हूँ, चाहे वह किसी तरह क्यों न हो । वे मुझे हृदय से एकबारगी मिटा दें; यह मैं किसी तरह नहीं सह सकती !

सिप्रा की बातें सुनकर प्रवीर की बोलती बन्द हो गई । किन्तु यदि वह आत्महत्या कर ले तो ! उसे सोचना पड़ा । एक इतना

सुन्दर प्राणी—एक सामान्य कविता के लिये अकाल में ही नष्ट हो जाय! नहीं—प्रवीर उसे एक कविता दे डाले तो किसी का कुछ न बिगड़ेगा ?

'अच्छा, देता हूँ आपको एक कविता, किन्तु....।'

सिप्रा आनन्द से उछलने लगी—'दीजिए, अभी दीजिए।'

प्रवीर ने जेब से एक कविता की पाण्डुलिपि बाहर निकाली जो उसने इसी मास के अंक के लिए निर्वाचित की थी। सिप्रा के हाथ में देकर बोला—अपने हाथ से लिखकर भेजें।

सिप्रा रोशनी की ओर कविता पढ़ने चली गई। प्रवीर बिना कुछ कहे उठा और चला आया। उसके मन में तीव्र आँधी चल रही थी। वह अस्थिर हो उठा। क्षणभर भी वहाँ रुक नहीं सका वह।

सिप्रा ने कविता पढ़कर देखा कि प्रवीर चला गया था—जाने दो—उसका काम तो बन ही गया। मन में एक ही आशा थी, कविता निश्चय ही पार्थ को पसन्द होगी। फिर एक बार वह पार्थ के लिए प्रयत्न कर सकेगी। पार्थ के पास न जाकर उसके बचने का और उपाय भी तो नहीं। प्रेम सभी को एक बार ज्ञान-शून्य बना देता है। सत्य प्रेम का अनुभव ही शायद वह ज्ञान है, जहाँ भले-बुरे उचित-अनुचित और मान-मर्यादा का भान नहीं रहता। किन्तु ठीक यही अवस्था तो प्राकृतिक मानसी वृत्तियों से परिचालित पशु की भी होती है। फिर भी यथार्थ-प्रेम इस स्थिति से एकबारगी भिन्न है। यह सब होने से पहले एक और की घटना घटी उसी दिन चार बजे चित्रा एक समाचारपत्र लेकर अशोका के यहाँ गई थी। अशोका चुपचाप सो रही थी। चित्रा समाचार-पत्र उसके सामने रखकर बोली—देखा है यह

आज पाँच बजे पार्थ बाबू 'मानव-सम्मेलन' का सभापतित्व करेंगे, ठीक उसी समय हम लोग उनके घर जायँगे, जो हो, तेरी एक कविता दे आवेंगे। चल, जल्दी तय्यार हो जा। अशोका उठकर बैठ गई, उसे कपड़े बदलने थे। बाहर जाने के लिए कुछ-न-कुछ साज-सज्जा तो जरूरी थी।

चित्रा बोली—अधिक सजावट नहीं करना, चल जल्दी, पार्थ बाबू देखेंगे नहीं!—किन्तु फिर भी बिना साज-सजावट के तो अशोका बाहर नहीं गई कभी। कहा—ठहरो न भाई, बाहर क्या 'मेहतरानी' की तरह जाऊँगी!

'नहीं जी, राज-रानी के समान चलो, चल जल्दी कर'—चित्रा बेचैन थी। वे पार्थ के घर की ओर चलीं।

रास्ते में, गाड़ी में ही अशोका ने पूछा—उसके घर में कौन-कौन रहता है कुछ जानती हो न!

'नहीं, मैं कुछ भी नहीं जानती—जो भी हो, कोई न होगा तो, कम-से-कम एक लेटर-बक्स तो मिलेगा ही।' दोनों हँस पड़ीं।

जाने की क्या आवश्यकता थी, डाक द्वारा भेजने से ही काम चल जाता—अशोका ने कुछ दबे स्वर से कहा।

'नहीं चलता—घर तक तुम आई थीं, यह जानकर उसकी तेरे ऊपर अधिक सहानुभूति होगी और शायद कुछ कोमल होकर कविता की परीक्षा करेगा।'—चित्रा के पुराने विचार जा न सके।

अशोका नवीन कवियों में कुछ नाम पा चुकी थी। 'विहाग' के सम्पादक तो उसके प्रायः भक्त ही थे। इसके बाद भी यदि अशोका की कविता पसन्द न की गई तो उसके लिये यह बड़ी लज्जा की बात थी। अच्छा होता अशोका स्वयं न आती! किन्तु पार्थ बाबू तो हैं ही नहीं, लज्जित होने का कोई कारण नहीं! भला पसन्द ही क्यों न आयेगी? उसकी सबसे अच्छी कविता

वह छाँटकर ले जा रही है। अशोका इसी उधेड़-बुन में पड़ी थी। कार गली में घुसी। और सामने मकान के पास ही रुक गई। अशोका और चित्रा उतरीं, साइनबोर्ड देखकर वे लोग आगे बढ़ीं। मकान का द्वार अन्दर से बन्द था। किन्तु अन्दर कुछ व्यक्ति जान पड़ते थे। अधखुले जँगले में से उन लोगों ने अन्दर की ओर ताका।

तुषार जैसी शुभ्र और लाल पाढ़ की साड़ी पहिने एक लड़की एक हाथ में धूप और एक हाथ में दीपक लिये आँगन में घूम रही थी। पीछे का भाग दिखाई पड़ रहा था। घर के कोने-कोने में वह धूप का धुआँ लगा रही थी नीरव नर्तकी के समान। पीठ के ऊपर लम्बी वेणी—क्रमशः सारी ही आँचल से ढकी थी। अन्तिम छोर दिखाई दे रहा था। कौन है यह? पार्थ की बहिन है क्या? लड़की इसकी ओर फिरी। चित्रा और अशोका ने उसे देखा, मानो वह एक चित्रित देवी थी—स्वयं सन्ध्या ही मानों गतिमयी और साकार हो उठी हो—आधे अँधेरे-से घर में उसके आविर्भाव से—चित्रा और अशोका को यही जान पड़ा। विस्मित हो गईं वे। धूप-द्वीप लिये हुए दोनों हाथों से तुलसी-वृक्ष को प्रणाम कर लड़की एक ओर ओझल हो गई। इतनी देर बाद चित्रा को होश आया—और यह कौन है भाई—अशोका ने पूछा।

'जानती नहीं, किन्तु अनुपम सौन्दर्य है—जान पड़ता है पार्थ की बहिन है!'

'शायद!' उन लोगों ने साँकल खटखटाई। जवाब नदारद! ऊँचे स्वर से चित्रा ने पुकारा, 'पार्थ बाबू घर पर हैं क्या?'

भीतर की बातें सुनाई पड़ने लगीं।

'माँ कोई बुला रहा है।' उत्तर में माँ की आवाज सुनाई दी–'जा न, तू ही खोल दे।'

उसी लड़की ने आकर दरवाजा खोल दिया। नमस्कार कर अशोका ने कहा—मालूम होता है घर में पार्थ बाबू नहीं हैं ?

'नहीं, वे किसी सभा में गये हैं।'

'अच्छा, आपसे ही हमारा काम चल जायगा।'

'बैठिए आप।' किन्तु किस पर बैठाये !—टूसी संकोच में पड़ गई।

'पार्थ बाबू यहीं बैठते हैं न ? हम लोग यहीं बैठती हैं। आप चिन्ता न करें। काम तो एक क्षण का है। मैं अपनी एक कविता देने आई थी इन्हें, देखिए।'

'दे जाइए, मैं उन्हें दे दूँगी।'

'आप थोड़ा देख लीजिए न भाई, उनको पसन्द भी होगी या नहीं। वापिस होने पर मुझे बहुत शर्म लगेगी, दुख भी होगा।'

'मैं क्या देखना जानती हूँ ? वे ही आकर देखेंगे।'

'आप उनकी रुचि कुछ तो जानती होंगी—उनकी बहिन ठहरीं न ! जब''''।'

'ना—मैं तो घर की नौकरानी हूँ।' कहकर टूसी थोड़ा हँस दी। चित्रा और अशोका अवाक् रह गईं। घर की नौकरानी !! क्या कहती है ये। ऐसा कभी हो सकता है। राजकुमारी-सा चेहरा और नौकरानी का काम ! अशोका ने हँसकर कहाः—'आप भी मजाक करती हैं ? बोलिए न किस कालेज में पढ़ती हैं ?'

'कालेज में नहीं पढ़ती ! आप यहीं बैठिए, मैं अभी आई।' टूसी चली गई। चित्रा ने कहा—कौन है यह लड़की ? कहती है अपने को नौकरानी। चाल-ढाल कुछ और ही बोलते हैं। 'बहिन' कहने पर हँसी क्यों ?

अशोका ने भी हँसकर कहा—'जान पड़ता है पास-पड़ोस की लड़की है कोई ! शायद शौक़िया…।'

'किन्तु कहती है कालिज में नहीं पढ़ती ! घर में धूप-दीप दे दे रही थी।'

'रहस्य क्या है इसमें ? तुम तो अभी से जासूसी पर उतर पड़ीं।'

'हाँ, रहस्य यह है कि ये पार्थ बाबू की मनोनीता बहू जान पड़ती हैं, समझीं ? निश्चय यही बात है ? शादी अभी नहीं हो पाई—सिंदूर नहीं है माँग में—ठीक यही बात है अशोका !'

'किन्तु यह न कहकर नौकरानी क्यों कहा ?'

'वह गँवारू ढंग है। लड़की एकदम गँवारू की है, देखा नहीं साड़ी पहिनने का ढंग ?'

इतने में टूसी लौटकर आ गई। अशोका ने उसके हाथ में कविता देकर कहा—'काम हो गया आपका ? अच्छा यह लीजिए अब ?'

'अच्छा, मैं इसे रखे देती हूँ, उनके आने पर दे दूँगी। अगर थोड़ी देर और रुक सकती हैं, तो ठहरिए, मुलाकात हो जायगी।'

'आप ही एक बार देखिए न मेरा अनुरोध है—कहिए तो कैसी लगती है।' टूसी ने कागज खोलकर उसे पढ़ना शुरू किया। अधीर आग्रह से अशोका और चित्रा प्रतीक्षा करने लगी।

'आपका मत ही मैं पहले सुनना चाहती हूँ—कहना ही पड़ेगा।'

'आप बुरा न मानें—यह कविता वे पसन्द नहीं करेंगे !'

'क्यों ? क्या कारण जान सकती हूँ मैं ?' अशोका का मुख-टूसी की बात सुनकर फीका पड़ गया। कुछ रोष भी आ गया था। कुछ ख्याल न करें—टूसी ने विनीत कण्ठ से कहा—आप आग्रह करती हैं, इसीलिए कहती हूँ। ये सब—मेघ का अग्नि-

मान्द्य, पृथ्वी का सड़ा घाव, उस्तरे जैसा ओंठ, नील-रक्त, एयरोप्लेन के समान हलका उलङ्ग शरीर—इन सबको कह देने से ही क्या सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है ? सड़ा घाव तो स्वयं ही असुन्दर है, ओठ उस्तरे जैसा हुआ तो आदमी दूर से ही उसे 'नमस्कार' करेगा।

'इसके अतिरिक्त, क्या कहना चाहती हैं आप इन अर्थहीन, असम्बद्ध बातों से''''नील रक्त के उष्ण कोटर में—तुम्हें रखूँगी—या जैसे''' छिः छिः।' टूसी ने विरक्ति से भौहें सिकोड़ लीं। 'यह भी कोई उपमा है भला ! रक्त तो कभी नीला नहीं होता—और माँ पुत्र को जिस प्रकार रखती है उस तरह और भी कोई रख सकता है। टूसी के मुख पर सरल हृदय की सारी विरक्ति परिस्फुटित हो उठी। उसने कहा—उनको यह कविता देने में मुझे तो लज्जा लगेगी—मैं यहीं रखे देती हूँ।'

चित्रा और अशोका देखती रह गईं। इतनी सी लड़की ने उनकी कविता की कैसी कटु समालोचना कर डाली—इससे और क्या कहा जाय ? अशोका ने निश्वास छोड़कर कहा—पार्थ बाबू कब आएँगे जानती हैं आप।

'अब आते ही होंगे। क्या आप राह देखेंगी ?'

अशोका ने सिर हिलाकर 'हाँ' जता दी। टूसी ने उनसे बैठने को कहा और अन्दर चली गई। चित्रा ने कहा। 'किन्तु पार्थ बाबू मुझे देखेंगे तो सारा गुड़-गोबर हो जायगा।'

तुम गाड़ी में ही बैठो—जाओ—कहकर अशोका चटाई पर ही बैठ गई। चित्रा बाहर चली गई। अशोका 'वैजयन्ती' की एक प्रति लेकर पन्ने उलटती रही। सात बजे के लगभग प्रार्थ ने घुसते-घुसते ही कहा—आज तो खूब अच्छे कपड़े पहिन रखे हैं

टूसी—ओ हो—नमस्कार—माफ करिए—गलती हुई, दरवाजा बन्द किये आप बैठी थीं यहाँ.......

'कोई हर्ज नहीं—आइए—मुझे टूसी कहकर एक बार गलती ही सही!' लज्जित हास्य के साथ पार्थ ने कहा—'आपसे क्षमा पाकर मुझे बहुत अच्छा लगा।' अशोका हँसते-हँसते रुक गई, पार्थ के मुँह की ओर ताकती रह गई। टूसी चाय ले आई। पार्थ ने कहा—'मैंने इन्हें देखकर समझा कि तू यहाँ बैठी है।' टूसी सलज्ज हँसी के साथ चली गई। अशोका ने पूछा—यह लड़की कौन है आपकी पार्थ बाबू, कोई आत्मीय है। प्रथम परिचय में इतना पूछना अनुचित है फिर भी अशोका को पूछना ही पड़ा।—मेरी माँ की पालिता कन्या है। हम लोग एक साथ ही पाले-पोसे गये हैं।

'ओ, अच्छा तो माँ का स्नेह भी उसने बराबर ही पाया है।'

'हाँ, सो तो पाया ही है—शायद कुछ अधिक ही पाया है।'

'क्यों?'

'कारण, वह लड़की है। वह आज चौदह बरसों से माँ के स्नेह में हिस्सा बँटा रही है।' पार्थ सरल आनन्द के साथ हँस दिया। अशोका उस हँसी को देखती रह गई। उसने तत्क्षण नारी-हृदय की तीक्ष्ण कसौटी पर पार्थ का मन कस लिया। वह समझ गई कि यही लड़की पार्थ की भावी जीवन-सङ्गिनी है। वह हँसकर बोली—आप उसे स्कूल कालेज में क्यों नहीं पढ़ने भेजते? इस प्रश्न के साथ जैसे अशोका आत्मीयता कर बैठी।

'पैसा नहीं है—इसके अतिरिक्त वह किसी पुरुष के सामने निकलती भी नहीं है।' पार्थ कोमलता के साथ हँस दिया।

'क्यों? बहुत शर्माती है क्या!'

'हाँ शर्मीती तो है ही—उसका एक व्रत भी है—मेरे ही साथ पढ़ती है—प्राइवेट परीक्षा भी देती है।'

अशोका ने चाय पीकर कहा—अच्छा अब आज्ञा दीजिए पार्थ बाबू, अन्य किसी दिन अपनी कविता लेकर आऊँगी !

अच्छा, नमस्कार,—कहकर पार्थ भी घर में चला गया। गाड़ी में आकर अशोका ने सब बातें चित्रा से कह दीं। चित्रा ने विस्मित होकर कहा—एक व्रत है। भाई कौन सा व्रत है ऐसा जिसमें अन्य मनुष्य का मुँह भी नहीं देखते। बाप रे ! ढोंग की भी एक हद होती है। किन्तु तू क्या उस पर जादू नहीं चला सकती ? शुष्क कण्ठ से अशोका ने उत्तर दिया—असम्भव ! जिसके घर में ऐसी मेघलोक की देव-कन्या हो।

१२

चार बजे प्रवीर चुपचाप आकर लेट गया। मालती स्नानागार में नहा रही थी। माँ कुछ सो रहीं थीं। प्रवीर लेटे ही लेटे बहुत सी बातें सोचने लगा। उसका चेहरा उतरा हुआ था—अपराधी जैसा ! क्या होगया प्रवीर को यह ! चिर-ब्रह्मचारी, महामानव और मनस्वी पार्थ का वह अभिन्न-हृदय बन्धु था। पार्थ की समस्त कार्य-पद्धति चलाने के लिये वह दृढ़-प्रतिज्ञ था, विराट् कार्य-केन्द्र में उसका सर्व-प्रथम स्थान था, किन्तु वह इस गुरुत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को निभा सका। उसने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उसके जीवन में इस प्रकार की एक आकस्मिक अवसन्नता, एक प्रलयङ्कारी बाढ़-सी आजायगी।

अभी 'वैजयन्ती' के आफिस में उसने देखी थी सिप्रा द्वारा प्रेषित अपनी कविता और उस पर पार्थ की स्वीकृति-'मनोनीत।' पार्थ आज घर में नहीं था इसलिये प्रवीर बच गया, नहीं तो

शायद पार्थ की सुतीक्ष्ण, दृष्टि से बचकर वह आज निर्विघ्न न लौट पाता। क्यों दी उसने सिप्रा को यह कविता ? पार्थ के साथ उसने यह धोखा क्यों किया। आजीवन सत्य-निष्ठ पार्थ प्रवीर की रचना को सिप्रा की रचना कहेगा। यदि किसी दिन पार्थ को यह पता चल गया कि यह कविता सिप्रा की नहीं उसी की थी तो वह कैसे पार्थ को मुँह दिखा सकेगा !

किन्तु पार्थ कैसे जानेगा यह ! सिप्रा क्या अपने पैरों में ही कुल्हाड़ी मारेगी। नहीं—वह कभी किसी से नहीं कहेगी। फिर भी प्रवीर ने पार्थ को ठगा है। जान बूझकर धोखा दिया है !

चाय लेकर मालती कमरे में घुसी।

'दादा कैसे लेट रहे हो ?' प्रवीर ने चुपचाप चाय ले ली !

'पार्थदा आये थे। तुम गये और वह आये, यहाँ बहुत देर तक रुके भी।'

'क्या कह रहा था—मुझे खोज रहा था क्या ?'

'नहीं—कल के लिये मुझे माँ ने न्योता भेजा है। तुम मुझे वहाँ सुबह ही पहुँचा आना—यही कहने आये थे।' कुछ ठहरकर वह फिर बोली—कल मैं दिन भर वहीं रहूँगी दादा, टूसी के साथ गप्पें लड़ाऊँगी, क्यों ठीक है न ? हँसकर प्रवीर ने उत्तर दिया—अभी जा न, आज ही से शुरू कर दें।

'नहीं—पार्थ-दा एक बात तुम्हारे विषय में कह गये हैं।'

'क्या-क्या कहा पार्थ ने ?' प्रवीर चौंक पड़ा।

'कहा, प्रवीर बड़ा दुर्बल होगया है मालती—उसे तू ही सम्भाल ले—नहीं तो मुश्किल होगी।'

प्रवीर ने चाय का प्याला आधा ही पीकर मालती को लौटा दिया।

मालती अवाक् होकर भाई के मुँह की ओर ताककर बोली—

क्यों, नहीं पियोगे क्या ? क्या अभी खतम नहीं हुई ओः ? अच्छा ला, दे—तूने क्या कहा पार्थ से ?

'मैं क्या कहती दादा, किन्तु सचमुच तुम्हें कुछ होगया है। कई दिन से मेरे साथ अच्छी तरह बोलते भी नहीं। क्या हो गया है तुम्हें दादा ?'

प्रवीर चुपचाप छत की ओर ताकता रहा। मालती ने फिर कहा—मुझसे न भी कहो, पार्थ-दा से तो कहते—वे बहुत चिन्तित हो उठे हैं दादा।

'हाँ री, यदि किसी से कहना है तो उसी से कहूँगा। तू जा ! मैं कुछ देर अकेला ही रहना चाहता हूँ।'

तुम्हें क्या होगया है दादा ! ऐसी बहकी-सी बातें तो मुझसे कभी नहीं कीं तुमने। नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। कुछ देर चुप रहकर मालती ने कहा—अच्छा, सोचते रहो जो चाहो सो, मैं नहीं जाऊँगी, तुम्हारे सिर पर हाथ फिराती रहूँगी। प्रवीर ने उसकी ओर ताका, एक फीकी हँसी के साथ। मालती भाई के सिर पर हाथ फिराती रही। प्रवीर की विचार-धारा अविराम गति से बढ़ी जा रही थी। बीच-बीच में उसके बिना जाने ही हृदय से एक लम्बी साँस निकल पड़ती। मालती आश्चर्य के साथ अपने भाई का यह मौन-दुख देख रही थी। क्या हुआ यह भैया को ? मालती का भाई जैसा किसी का भी नहीं था, इतना भ्रातृ-स्नेह शायद ही किसी-बहिन को मिलता था। वही भाई आज मालती के साथ बातें करने में भी संकुचित हो रहा था। क्यों किसलिए ? मालती के मन में साँझ के तारों के समान दुश्चिन्ताएँ छा-गईं। वह चुप न रह सकी, कुछ ठहरकर फिर बोल उठी—चाय और पिओगे भैया एक बार ?

'नहीं—हाँ—दे थोड़ी सी—।' मालती उठ गई। प्रवीर के

अगाध स्नेह की एकमात्र अधिकारिणी अभी तक यह बहिन ही थी। प्रवीर ने उसे गोद में खिलाया था। उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियाँ प्रवीर से छिपी न थीं। मालती भी अपने भाई पर ठीक उसी प्रकार जान देती थी। प्रवीर और किसी को भले ही बहला दे; मालती को नहीं बहला सकता था। मालती ने निश्चय ही प्रवीर के दुःख का कारण ढूँढ निकाला; कम से-कम अनुमान तो लगा ही लिया।

मालती चाय ले आई। प्रवीर ने हाथ में लेकर कहा—आज सान्ध्य-दीप नहीं जलाओगी क्या, मालती—कई दिन से तो खूब जलाती थीं।

'चाय का जल चढ़ाकर संझा-बाती कर दी है। मैं उस दिन टूसी से सीख तो आई थी। कोई भी इतनी सुन्दरता से धूप-दीप नहीं जलाता। टूसी कमाल की लड़की है! मुझसे क्या बोली दादा—जानते हो?'

'क्या बोलीं?'

'बोली—दादा को, माने-तुम्हें—कहना कि हम लोगों के लिये शीघ्र ही एक भाभी ला दीजिए।

प्रवीर ने हँसकर कहा—क्यों ननदोई क्यों नहीं चाहती एक?

'हटो'—मालती हाथ से चुपचाप भाई के पैरों को सुहलाने लगी।

दोनों कुछ देर चुपचाप रहे। अकस्मात् मालती बोल उठी; 'तुम कहो न दादा, किसे चाहते हो, मैं सम्बन्ध करा दूँगी।'—मालती दोस्त बनती जा रही थी।

प्रवीर मन ही मन चौंक उठा। आत्म-संवरण कर बोला—'तो तू दलाली करेगी—आँ!'

'हाँ, करूँगी—जो कुछ भी तुम्हारे लिए करना पड़े, वह अवश्य ही करूँगी !'

'किन्तु मैं यदि कहूँ, आकाश की अरुन्धती को चाहता हूँ तो !'

मालती चुप रह गई—निरुत्तर होकर भाई के पैर सुहलाती रही। प्रवीर बाहर आकाश के सितारों की ओर ताकता रहा। सान्ध्य गगन की गोद में वे कैसे शान्त और निस्तब्ध थे—नहीं, उनके हृदय में भी कोई गम्भीर दुःख काँप रहा था, स्पन्दित हो रहा था, किसी अज्ञात वेदना के विषमय निश्वासों से उनकी आँखों का प्रकाश भी धुँधला पड़ गया था। जगत् में कोई शान्त हो सकता है भला !

'दादा—मैं तुम्हारे मित्र को किस दृष्टि से देखती हूँ, तुम तो जानते ही हो'—मालती ने कहा।

प्रवीर ने उसके मुँह की ओर पूर्ण-दृष्टि से ताका। क्या कहना चाहती थी मालती ? वह निःशब्द बैठा रहा।

'किन्तु यह कामना अब मेरे देह-मन के संपुट में बन्दी नहीं है, वह मुक्त है। मन के अन्दर भी जो मन है, उसी में मैंने उसके लिये आसन बिछा रखा है, जैसे भक्त भगवान् के लिये करता है। देवता को सभी प्यार करते हैं, किन्तु पति-पत्नी के बन्धन में उससे विरोध तो नहीं पड़ता।' मालती चुप हो गई। विस्मित प्रवीर अधीर होकर पूछने लगा, 'तू क्या कहना चाहती है मालती ? स्पष्ट कह न।'

'तुम जिन्हें प्यार करते हो, वे यदि सचमुच ही अरुन्धती के समान अप्राप्य हैं तो उनको पूज्य इष्टदेवी के आसन पर बिठाये रहो ! क़ामना की धूलि से धूसरित न होने दो।'

प्रवीर-मालती के मस्तक को गोद में खींचकर बोला—'इतनी

वाक्शक्ति कहाँ से मिल गई तुझे मालू, किसने सिखाया है तुझे यह सब ।'

मालती चुपचाप भाई की स्नेह-सुधा का अनुभव करती रही।

१३

प्रातःकाल चटाई पर बैठा पार्थ सम्पादकीय लेख लिख रहा है। बाएँ हाथ में चाय की प्याली थी जो प्रायः समाप्त हो चुकी थी। आज उसे सम्पादकीय लेख पूरा करना ही होगा। उसका मन उसीमें व्यस्त था। इतने में ही प्रवीर और मालती कमरे में आ गये। मालती के हाथ में केले के पत्ते में मुड़ी हुई एक बड़ी सी फूलों की माला थी। वह अन्दर आते ही किलकारती हुई टूसी के पास चली गई।

'टूसी—टूसी, कहाँ है भाई—मैं भी पकाऊँगी....।'

'ओ हो, लड़कियाँ, तो एकदम रण-रङ्गिनी ही बनी जा रही हैं।' पार्थ ने हँसते हुए कहा।

तुझे पहले मैं यह माला पहनाऊँगी—आ—कहते-कहते मालती आगे बढ़ी।

टूसी ने कहा—'ठहरो माँ की आज्ञा के बिना और उनकी दी हुई चीज के सिवाय मैं कोई चीज नहीं ले सकती—माँ से कहो !'

माँ, मैं यह माला टूसी के गले में पहना दूँ—मालती ने माँ को पुकारकर कहा।

'पहना दे बिटिया, पहना दे न', माँ ने कमरे के अन्दर से जवाब दिया।

'अच्छा, आ अब पार्थ दादा की भी तो अनुमति लेगी'—मालती टूसी को खींच लाई। प्रवीर अभी कमरे में ही था। टूसी उस समय कमरे में नहीं आ सकती थी।

पार्थ ने प्रवीर की ओर—तीक्ष्ण दृष्टि से देखकर कहा 'काम में मन लगाओ प्रवीर, मनुष्य को जीवन में बहुत-से आघात सहने पड़ते हैं। जाओ, कल पहली तारीख है अखबार निकालना है। यह थोड़ा सा सम्पादकीय लो। सब प्रबन्ध करो।' प्रवीर चुपचाप लेख लेकर बाहर चला गया। मालती टूसी का हाथ पकड़कर अन्दर आ गई, बोली—'यह माला आप इसके गले में पहना दीजिए।'

'मैं नहीं पहनाता बहिन, तू ही पहना दे।' मालती माला गले में पहना ही रही थी कि टूसी ने हाथ पकड़कर कहा—'उनके पैरों से लगाकर पहना दो दीदी।'

'बाप रे, अजीब लड़की है—किन्तु धन्य है तेरी निष्ठा।'

सभी हँस पड़े—'देखिए तो पार्थ-दा यह कैसी लग रही है।' मालती मुस्कराकर बोली।

'कैमरा नहीं है, नहीं तो मैं तुम लोगों को एक फोटो खींच देता—किन्तु तेरी माला कहाँ है री माल्हू?'

'मुझे कौन माला देगा दादा!'

गाड़ी से उतरकर सिप्रा कभी की दरवाजे पर खड़ी थी। घुसकर बोली—'अभी कोई नहीं है आपको माला पहनाने के लिये?' 'यदि मैं पहनाना चाहूँ तो?'—उसने सकुचाकर पार्थ को प्रणाम किया, उसके मुख की प्रत्येक रेखा कोमल हो उठी थी, पार्थ देखता रह गया।

'भगा तो नहीं देंगे, मैं आपकी अतिथि हूँ।'

'नहीं, आप बैठिए! टूसी दो प्याले चाय तो बना ला—जा।'

सिप्रा ने इतने में ही टूसी की ओर ताक लिया था। टूसी मालती के पीछे छिपी खड़ी थी। कौन है यह लड़की। पार्थ बाबू की यह कौन होती है? टूसी और मालती के चले जाने पर सिप्रा

द्वार की ओर ही देखने और सोचने लगी। 'दादा' तो इधर की लड़की ने कहा था। वह फिर कौन है? पार्थ बाबू की बहू? किन्तु शायद पार्थ बाबू की तो अभी शादी ही नहीं हुई। तब कौन है यह लड़की? सिप्रा के मन में ऐसे अनेक प्रश्न चक्कर काटते रहे। पार्थ सम्पादकीय लिखता रहा। सिप्रा ने अपने ड्राइवर को बुलाकर एक अच्छी सी माला और फूल खरीद लाने को कहा। आज उसने कमरा भी साफ-सुथरा देखा। चारों ओर सब चीजें ठीक सजी थीं। माँ के लिये पूजा के फूल खरीदने पार्थ आज नहीं जा सका था इसलिये फूलदानी खाली पड़ी थी; किन्तु और सब परिपूर्ण था। उधर धूपदानी में धुँआ अब भी कुण्डली बनाए हुए था और चारों सुगन्ध फैली हुई थी। पार्थ जिस चौकी पर कागज रखे लिख रहा था, उस पर एक सुन्दर कसीदाकारी का मेजपोश बिछा था। किसने किया है यह सब? माला पहिनने-वाली ने या माला पहिनानेवाली ने?

मालती एक प्लैट में चाय और सन्देश ले आई। सिप्रा ने उसकी ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा। वह कुछ भी न जान सकी।

'वे कहाँ हैं जिन्हें यहाँ माला पहिनाई थी आपने?'

'वह खाना बना रही है—चाय पीजिए। दादा चाय लीजिए, लीजिए।'

'लीजिए' मत कहो। लक्ष्मण को राम कहते थे, पढ़ा नहीं है?'

'हाँ—पीजिए'—कहकर मालती चली गई।

सिप्रा ने एक सन्देश उठाकर तश्तरी पार्थ की ओर बढ़ा दी। फिर कुण्ठित स्वर में पूछा—'मेरी यह कविता कैसी है; पसन्द नहीं आई क्या!'

'नहीं, आपकी यह कविता अच्छी है। मुझे तो यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्दी आपमें कवित्वशक्ति कैसे आगई।'

सिप्रा ने आँखें नीची कर लीं। दुर्भाग्य! इस प्रशंसा का एक कण भी उसका अपना न था। यद्यपि इस व्यक्ति के मुख से सिर्फ थोड़ी सी प्रशंसा सुनने के लिये शायद वह सब कुछ दे सकती थी। उसकी हालत चित्रांगदा जैसी थी। दूसरे के रूप को उधार लेकर अर्जुन को मुग्ध करने की ग्लानि उसके हृदय मे घनीभूत हो उठी। सिप्रा किस तरह अपने को इस भार से मुक्त करे। मनुष्य का मन ऐसी ही मूर्खता करता है। घर से बाहर आते समय सिप्रा रास्ते भर यही सोचती रही कि कविता मनोनीत होने पर सिप्रा का आनन्द सीमाहीन हो उठेगा। किन्तु उसका मन इस समय आनंदित क्यों नहीं है? यह प्रशंसा मानो उसकी पीठ पर चाबुक लगा रही थी। पार्थ ने इतना ही क्यों न कहा कि निर्वाचित हो गई है? अच्छा होता यदि वह पार्थ से इसका जिक्र ही न करती! सिप्रा का मन दूसरे की प्राप्य वस्तु को इस प्रकार धोखे से हथिया लेने की ग्लानि से भर उठा। कभी उसने दूसरे का प्राप्य नहीं लिया। किन्तु""आज""'क्या सोच रही हैं सिप्रा देवी?' पार्थ ने पूछा।

इतनी देर में उसका सम्पादकीय लेख पूरा हो चुका था।

'नहीं—कुछ नहीं—वैसे ही मन इधर-उधर घूम रहा है।' सिप्रा ने उत्तर दिया।

'आपकी कविता तो इसी महीने में ही छाप दूँ न?'

'छाप दीजिए'–सिप्रा ने कहा। किन्तु उसके मन में आया कि वह पार्थ के सामने से भाग जाय किन्तु भाग जाने का कोई सरल उपाय नहीं खोज सकी। सोचा, मकान के अन्दर ही घूम आया जाय। सिप्रा उठ पड़ी। पार्थ समझ गया, बोला—'जाइए न, भीतर जाइए।' मालती उसे सादर माँ के पास ले गई। दूसी रसोई-घर में ही थी। माँ सचमुच मातृरूपा थीं। सिप्रा ने उनके पैर

छूकर नमस्ते की। माँ ने आशीर्वाद देकर कहा—'क्या ही अच्छी लड़की है, तुम्हारा नाम क्या है बेटी ?'

'श्रीमती सिप्रा देवी,—चट्टोपाध्याय।'

'खूब मीठा नाम है, मुख भी मधुर है ! है न मालती ?'

'हाँ माँ खूब अच्छी हैं ये ! दादा के पत्र की लेखिका हैं।' सिप्रा मन ही मन चौंक पड़ी। यहाँ भी वही बात। कहाँ भागे वह। इतने में ही टूसी ने सिप्रा को पीछे से आकर पकड़ लिया।

'आप मेरे साथ बात नहीं करतीं सिप्रा दीदी।' टूसी के कण्ठ में करुण विनती थी। सिप्रा हँस पड़ी। उसकी सारी मनोग्लानि क्षण भर में ही कट गई। दोनों हाथों से टूसी को पकड़कर कहा—'तुम्हें छोड़कर और अब किसी से नहीं बोलूँगी—चलो अपने रसोई-घर में।'

सैन्डल उतारकर सिप्रा चौके में आ गई। यह सुन्दरी लड़की उसे बहुत अच्छी लग रही थी। वह टूसी से एकदम प्रभावित हो गई थी। मालती माँ के पास बैठी बातें कर रही थी—टूसी और सिप्रा रसोइये में थीं।

पार्थ ने जोर से कहा—अपनी माला और फूल ले जाइए। —सिप्रा ने बाहर से नंगे पैरों आकर मालती के गले में माला पहिना दी। लौटकर पार्थ की फूलदानी में फूल सजा दिए। पार्थ ने ताककर देखा और कुछ हँसा। सिप्रा चली जा रही थी; किन्तु लौटकर पूछा—'इस मुहल्ले में फोन है ? मेरे घर में कहला दीजिए कि शाम को लौटूँगी।'

'नम्बर दीजिए; कहे आता हूँ'—पार्थ ने उत्तर दिया।

सिप्रा पार्थ को मकान का फोन नम्बर देकर अन्दर चली गई। टूसी ने आज उसे न्योता दिया है, वह यहीं खायगी। सिप्रा ने ऐसे ढंग से पहले कभी नहीं खाया था। उसे साहबी तरीके से

टेबुल पर खाने का अभ्यास था। किन्तु आज वह पार्थ की दिन-चर्या देखना चाहती थी। टूसी के पास लौटकर वह इधर-उधर की बहुत सी बातें करती रही। टूसी ने इसी वर्ष प्राइवेट आई. ए. परीक्षा दी है। टूसी ने बुर्का पहनकर परीक्षा दी थी। सिप्रा ने उसके सौभाग्य पर थोड़ी भी ईर्ष्या नहीं की।

किन्तु वह किसी प्रकार भी यह न पूछ सकी कि पार्थ के साथ उसका क्या सम्बन्ध है। शायद उसे यह अभद्रता जान पड़े, उसे यही डर था। देखा कि टूसी इस घर का सारा काम-काज करती है। मालती बाहर का काम कर रही थी, किन्तु भीतर का काम वही करती थी। सिप्रा समझ गई कि मालती इस घर की लड़की नहीं है। अन्त में सिप्रा कौतूहल नहीं दबा सकी। बोल ही उठी 'पार्थ बाबू जैसे भाई की जब तुम छात्रा हो तो.......'

'ऊँ हूँ, नहीं बहिन, मैं इस घर की दासी हूँ'—टूसी ने हँसते हुए कहा।

'दासी—!' सिप्रा ने चौंककर पूछा, जैसे बिजली चमक गई हो—'कितना वेतन पाती हो?'

'बगैर वेतन के ही हूँ, सिर्फ रोटी-कपड़ा मिलता है।' बाहर से पार्थ ने पुकारकर कहा—'गंगा नहाने जा रहा हूँ। अँगोछा देना टूसी, देना टूसी और यदि गंगा-जल मँगाना हो तो कलसी भी देना एक।'

टूसी अँगोछा और पीतल की एक कलसी पार्थ के हाथ में दे आई। पार्थ के चले जाने पर सिप्रा ने कहा, 'मुझे कुछ काम दो।' टूसी ने उसे कुछ फल काटने को दिए। मालती माँ के साथ अविराम बातें किये चली जा रही थी। घर की हवा मानो हँसी और आनन्द के स्निग्ध परिमल से आप्यायित थी।

पार्थ दालान में आकर खड़ा हो गया। कन्धे पर जल की

कलसी और अँगौछा था, नंगा शरीर, नंगे पाँव। सिप्रा ने किसी भी आधुनिक युवक की ऐसी मूर्त्ति नहीं देखी थी। उसके समाज में नंगा शरीर असभ्यता का परिचायक था। किन्तु पार्थ कैसा सुन्दर लग रहा था। जलाभिषिक्त गौर वर्ण भी उज्ज्वल हो उठा था। कलसी की छलकन से जल-बिन्दु मानों मुक्ताहार से पड़े हों उसके गले में। सिप्रा मुग्ध-आश्चर्य से उसकी ओर देखती रह गई।

भोजन शेष कर पार्थ आफिस में चला गया। सिप्रा, मालती और टूसी एक साथ खाने बैठीं।

माँ पहले ही खा चुकी थीं। खाते-खाते मालती ने कहा, 'आज आप कोई नवीन कविता लाई हैं क्या ?'

सिप्रा बहुत देर से कविता की बात तो भूल गई थी। मालती के प्रश्न ने उसके घाव को छू दिया। मानो उसके मनोमेघ पर बिजली का चाबुक पड़ गया हो। उत्तर न पाकर मालती विस्मित होकर भी चुप रही। सिप्रा उनकी अतिथि थी, किसी प्रकार भी वे लोग उसे क्षुण्ण नहीं कर सकते थे। धीरे-धीरे खाना समाप्त हो गया। मालती का लगाया पान लेकर टूसी ने सिप्रा से पूछा, 'पान खाइए न ?'

'नहीं बहिन—मैं खाती नहीं—!' सिप्रा ने जवाब दिया।

'खाने के बाद कुछ तो खाना ही चाहिए, नहीं तो मुख शुद्ध नहीं होता' कहकर टूसी ने उसके मुँह में एक पान भर ही दिया।

सब लोगों को आलस्य आ रहा था, सोने की इच्छा थी। सिप्रा उठकर पार्थ के कमरे में आ गई। पार्थ सोया नहीं था, लेटे ही लेटे अंग्रेजी कविता की एक पुस्तक पढ़ रहा था। सिप्रा को देखकर उठ पड़ा, सीधा बैठ गया। फूलदानी के फूल और और भी अच्छी तरह सजाकर सिप्रा ने कहा—'क्या पढ़ रहे हैं आप ?'

'लाल-गुलाब—कविता चमत्कारपूर्ण है। देखिए न! 'प्रेम की वेदना से उसका काँटा फूल बनकर फूट उठा। आवेग से उसका रङ्ग रक्त के समान लाल हो गया। प्रिय-मिलन की आकृति ने उसके हृदय में सौरभ की अनुसन्धान-रश्मि उत्पन्न कर दी। इसी आलोक-रेखा को पकड़कर उसका प्रिय आवेगा—उसके लिये उसने संचित कर रखे हैं लम्बी रात के शिशिराश्रु, वह सोएगी नहीं, प्रभात के रथ में उसका प्रिय आवेगा—निश्चय आवेगा।'

कविता के अन्तर्निहित मधुर भाव से पार्थ के दोनों नेत्र आवेगपूर्ण हो उठे—सिप्रा देखती रही। फूलदानी से एक लाल गुलाब लेकर उसने पार्थ के वक्षस्थल पर फेंका। उसी क्षण उसने सोचा—यह क्या किया उसने! क्यों ऐसा काम किया! पार्थ यदि नाराज हो जाय तो! डरते हुए उसने आँखें उठाकर देखा—नहीं पार्थ नाराज नहीं हुआ था। हँसकर उसने फूल उठा लिया था। कमरे में सुरभित स्तब्धता छा रही थी।

प्रवीर ने कमरे में प्रवेश किया—घुसते ही चौंक उठा! यह यहाँ क्यों?

चौंक गये क्या प्रवीर बाबू! सिप्रा ने हँसकर सङ्केत किया। प्रवीर ने इसी बीच अपने को सम्भाल लिया—नहीं, कुछ नहीं देवी—बड़ी मुश्किल में पड़ा हूँ भाई, पार्थ, रुपया न मिलने से प्रेस वाले छपे हुए फार्म नहीं दे रहे हैं।

पार्थ की आँखों से कविता का मोह कट गया। वह अधीर होकर बोला—'फार्म नहीं मिलेंगे?' तब पत्र कैसे प्रकाशित होगा कल! कितना रुपया देना है?'

'कम से कम पाँच सौ रुपया है? नहीं तो?'

पाँच सौ रुपये के लिये पार्थ का मान जा रहा था। सिप्रा ने

कहना चाहा, वह अभी पाँच सौ रुपया दिए देती है किन्तु यदि पार्थ न ले। यदि कहे, उसका रुपया पार्थ नहीं ले सकता।

सिप्रा उधेड़-बुन में पड़ गई। पार्थ ने बिस्तरा छोड़कर पुकारा—टूसी–टूसी, सुनना, झट आ। प्रवीर तू जरा उधर जाना।

टूसी और मालती दरवाजे के पास आ खड़ी हुईं। पार्थ ने कहा, 'इसी समय पाँच सौ रुपया चाहिए मुझे—नहीं तो कल पत्र प्रकाशित नहीं होगा—वह सोने का हार तो दे दे—बेच दूँगा।' पार्थ ने हाथ बढ़ाकर हार लेना चाहा।

'लो—किन्तु माँ तुम पर बिगड़ेंगी शायद।'

'खूब नाराज होंगी क्या?'

'हूँ—पार्थ ने हार छोड़ दिया। तब क्या करना चाहिए? चिन्तित होकर पार्थ कमरे के एक कोने से लेकर दूसरे तक चहल-कदमी करने लगा। पत्र प्रकाशित नहीं होगा, कल सुबह उसकी 'वैजयन्ती' नहीं फहरा सकेगी। पार्थ ग्राहकों के सामने हास्यास्पद बन जायगा, असत्यवादी हो जायगा पार्थ। वह यह नहीं सोच सका कि 'क्षमायाचना' कर देरी से पत्र निकालना आधुनिक पत्रकारों की रीति में है। प्रवीर ने कहा—न हो तो परसों ही प्रकाशित कर देंगे, तू चिन्ता न कर पार्थ।'

'नहीं—कल ही निकलेगा—परसों ही कहाँ से आवेगा—पत्र प्रकाशित न होने से विज्ञापन का रुपया नहीं मिलेगा।'

'सिप्रा ने इसी क्षण कहा—'मैं यदि पाँच सौ रुपया दे दूँ।—'

'नहीं सिप्रा देवी, मैं जानता हूँ, आप दे सकती हैं, किन्तु मैं ले नहीं सकूँगा। आपसे लेने का मेरा कोई अधिकार नहीं।'

सिप्रा ने आहत होकर सिर नीचा कर लिया। इतना महान् बनना क्या ठीक था! मनुष्य में क्या इतना भी अनधिकार का स्थान नहीं? मनुष्य देवता तो है नहीं, पार्थ इतना सा उपकार

ग्रहण करना भी क्यों अनुचित समझता है ! यह तो सरासर ज्यादती है ! सिप्रा अधिक न सोच सकी ! टूसी ने धीमे स्वर में बाहर ही से कहा ।

'तुम छोटी काकी को चिट्ठी लिख दो, वह आजकल मैके आई हैं ।'

डूबते पार्थ को जैसे किनारा मिल गया हो। उसी समय कागज-कलम लेकर वह पत्र लिखने बैठ गया । टिकटों पर दस्तखत कर हैण्डनोट भी प्रवीर को दे दिए, 'जाओ, बहू—बाजार, अभी जाओ,—टैक्सी करके ।'

प्रवीर पता पढ़कर बाहर चला गया। सिप्रा रुष्ट स्वर में बोली, 'हैण्डनोट तो मुझे भी दे सकते थे पार्थ बाबू ! मुझसे कर्ज लेने में आप कुण्ठित हो जाते क्या ?'

पार्थ उसके तिक्त स्वर पर मुस्करा दिया । 'टूसी थोड़ी चाय बना दे री—आपको मैं हैण्डनोट भी नहीं लिख सकता देवी, कारण, मैं जानता हूँ कि आप यह रुपया वापस न लेतीं। आपसे दान लेने का मुझे कोई अधिकार नहीं। पार्थ फिर हँसा। सिप्रा मान-भरे स्वर में बोली—'मैं रुपया ले लेती—न लेती, यह आपने कैसे जान लिया ?'

'सचमुच आपका हृदय महान् है—सिप्रा देवी। अच्छी बात है, अब की बार जरूरत पड़ी तो आप ही से लेने की चेष्टा करूँगा, अच्छा इस घटना को अब भूल जाइए।' पार्थ हँस पड़ा। 'लोग रो-पीटकर भी रुपया नहीं जुटा पाते और आप खुद ही मुझे देने आई हैं—बड़ी अच्छी बात है, इस प्रकार क्या सम्पत्ति की रक्षा कर सकेंगी आप ?'

'मुझे सम्पत्ति नहीं चाहिए, पार्थ बाबू—सम्पत्ति न होती तो आपसे इतनी दूर भी न रहती। जैसे टूसी और मालती हैं,

वैसे ही मैं भी आपके पास आ सकती थी।' उसका कण्ठ-स्वर रो रहा था। पार्थ कुछ कहना ही चाहता था कि सिप्रा के मुख की ओर देखकर टूसी दो प्याले चाय ले आई। सिप्रा बोली, 'मैं नहीं पिऊँगी—जो मेरे पास से कुछ भी नहीं ले सकते, मैं उनके घर चाय नहीं पी सकती।' सिप्रा का स्वर आहत था।

उसके हृदय के प्रत्येक स्वर में किस मेघ की बिजली आँख-मिचौनी खेल रही थी, यह पार्थ से अज्ञात नहीं था। तथापि वह सहज-कण्ठ में आदेशपूर्ण स्वर से बोला, 'चाय पीजिए—हम लोगों की भूल-चूक बाद में निबटेगी। टूसी प्रवीर के लिये एक प्याला और तैयार रखना—वह अभी आता ही होगा।'

हुक्म देना ही सीखे हैं, बस—सिप्रा का कण्ठ अभिमान से करुण हो उठा था। चाय का प्याला ले लिया उसने, इसके बाद कहा, 'छोटी काकी यदि न दें तो मैं दूँगी ये रुपये, हाँ!'

'न दें होगा ही नहीं—वे देंगी ही।' पार्थ ने निश्चिन्त-से स्वर में उत्तर दिया।

'इतना विश्वास है आपका उनपर! क्यों?' सिप्रा के गले में शराब-सी तीक्ष्णता थी।

वे मेरे हृदय की सरस्वती की सबसे पहिली उपासिका हैं। पार्थ स्निग्ध-स्वर में बोला—'जब मैं लोगों का उपहासास्पद एक अज्ञात, देहाती कवि था; जब माँ की गोद छोड़कर मेरा कोई और स्थान न था, जब मैं अपनी हृदय-लक्ष्मी के आविर्भाव को किसी नर-देवता के वन्दना-गीतों से अभिनन्दित नहीं कर पाया था, तब मेरी कविता-वधू की अभ्यर्थना केवल इसी एक हृदय ने की थी।' पार्थ के गण्डस्थल की रोमराषि लहलहा उठी। उसके दोनों नेत्रों में किसी सुदूर अतीत स्वप्न-रजनी की विह्वलता छा गई थी। सिप्रा एकदम निर्वाक् रह गई।

प्रवीर लौट आया, नोट हाथ में रखकर पार्थ को हैण्डनोट थमा दिए। बाहर जा रहा था प्रवीर, पार्थ ने चाय पीने को कहा। सिप्रा ने हैण्डनोट उठाकर देखे—नारी के हस्ताक्षरों में पार्थ के लिखे पर स्पष्ट 'व्यर्थ' लिखा था—नीचे लिखा था—

'बहुत दिनों से तुझे देखा नहीं 'खोका', ॐ एक दिन समय निकालकर आना—नहीं तो मैं ही आऊँगी। छोटी काकी–पुनश्च मेरे पास हैण्डनोट भेजने में तुझे शर्म नहीं आई 'दुष्ट छेले' (शरारती लड़के)।'

—छोटी काकी

अकस्मात् सिप्रा बोल उठी, 'मैं अब कविता नहीं करूँगी पार्थ बाबू—पढ़ूँगी।'

'क्यों देवी, यह कविता यदि आपकी ही लिखी है तो आपके अन्दर सचमुच ही कवि-हृदय है।'

'यदि क्यों कहते हैं? आपको सन्देह हो रहा है, क्या?'

'नहीं, आपकी सत्यता में सन्देह करके अपने को अपराधी क्यों बनाऊँ?'

उधर प्रवीर चाय पीते-पीते संकुचित हो उठा। पार्थ की बात से सिप्रा का मुँह सफेद पड़ गया। कुछ सँभलकर सिप्रा ने एक कागज के टुकड़े पर कुछ लिखा। वह अकस्मात् बोल उठी—मैं चली–क्षण भर में ही सिप्रा कमरे से बाहर चली गई—एक बार नमस्कार भी नहीं किया किसी को। पार्थ ने कागज पढ़ा:—यह कविता आप न छापें, यह मेरी रचना नहीं है, मैंने आपको धोखा दिया है। क्षमा नहीं चाहती, क्या घृणा पा सकूँगी?'

—सिप्रा

ॐ लल्ला। 'बंगला में प्यार के साथ लड़के को कहा जाता है खोकन' या खोका, और लड़की को 'खूकू' या 'खूकी' या खोकी।

प्रवीर—पार्थ ने पुकारा।

'बोलो'—प्रवीर ने जवाब दिया। उसका हृदय अज्ञात आशङ्का से धक्-धक् करने लगा।

'निशा-निमन्त्रण' शीर्षक कविता मत छापना। सिप्रा यदि समय रहते न बतलाती तो मुझे मिथ्यावादी बनना पड़ता। मैं पाठकों के प्रति प्रवंचक बन जाता।'

'अच्छा' प्रवीर उठा जा रहा था, किन्तु लौटकर बोला—पार्थ!

पार्थ ने आँख उठाकर ताका—यह कविता मैंने लिख दी थी, तुझे बिना बताये।

'तुम मेरी माँ को 'माँ' कहकर न बुलाना प्रवीर! यदि आज मेरा सहोदर यह काम करता तो मैं अपने हाथों से ही उसकी हत्या कर देता। जाओ चले जाओ मेरे सामने से।'

'पार्थ के नेत्रों से आग बरस रही थी।'

'मुझे इतना बड़ा दण्ड न दे पार्थ—सिप्रा ने आत्महत्या की धमकी दी थी, इसीलिये…?'

'मैं जानता हूँ, कहाँ है तेरी दुर्बलता—तुम उसे प्यार करते हो, इसीसे आजीवन सत्यवादी पार्थ को मिथ्यावादी बनाना चाहते थे! प्रवीर, माँ के आशीर्वाद से आज मेरा अधःपात रुक गया। विचार कर देखना, तुमने क्या किया था यह!'

प्रवीर चुपचाप कुछ देर खड़ा रहा। वह जानता था पार्थ से प्रार्थना करना व्यर्थ था। उसकी सत्यनिष्ठा के कवच से आहत होकर किसी का भी प्रार्थना-शर चूर-चूर हो सकता था। कुछ देर में धीरज पाकर प्रवीर ने कहा—मैं माँ को अन्तिम बार प्रणाम करना चाहता हूँ।

'जाओ—कर आओ।'

प्रवीर माँ के पास दोनों आँखों में आँसू लिए आ खड़ा हुआ। माँ विस्मित होकर बोलीं—क्या हुआ बेटा—प्रवीर ?

वेदना-से रुँधे हुए अस्फुट स्वर में प्रवीर ने पार्थ का आदेश बता दिया। बोला—सत्यवादी का ऐसा निर्दय-व्रत तुमने क्यों दे दिया है उसे माँ—संसार में कोई मनुष्य उसको सह सकेगा ?

'माँ ने बुलाया—पार्थ, इधर आ।'

पार्थ आ खड़ा हुआ। माँ क्रुद्ध-स्वर में बोलीं—उनके कण्ठ में क्रोध-पूर्ण आग थी—मनुष्य के महत्व का श्रेष्ठ परिचय किसमें है पार्थ ?

'क्षमा में माँ।'

'अच्छा तो फिर प्रवीर को क्यों नहीं क्षमा कर सका रे ? तू श्रेष्ठ मनुष्य नहीं बनना चाहता ?'

'क्षमा किया माँ—आओ प्रवीर; माँ तुम शान्त होओ।'—पार्थ धीरे-धीरे बाहर चला गया।

माँ हँस उठीं—आकाश में फैले आशीर्वाद के समान !

१४

सारी रात अध-सोये जागरण में बिताकर सुबह चित्रा भाई के कमरे में आई—दादा, अब भी सो रहे हो ? आश्चर्य ! कुम्भकर्ण भी हार मान जायगा तुमसे।

'क्यों क्या हुआ ? कल क्लब से बहुत रात गये लौटा था मैं। क्या कहती है ?

अजय पलङ्ग पर उठकर बैठ गया।

'उठकर पहले हाथ-मुँह धोओ—मैं उस कमरे में बैठती हूँ जाकर !

चित्रा बैठकखाने में चली गई। नींद न आने से उसकी आँखें लाल हो रही थीं। नींद आवे कैसे ? ईर्ष्या और क्रोध की आग

उसके शरीर में फैल गई थी। पार्थ ने उसे छुआ भी नहीं। उसे अछूत के समान छोड़कर चला गया, घृणा से उसने ओठ सिकोड़ लिये। और उसी पार्थ ने अशोका के साथ बैठकर चाय पी—आनन्द से बातें कीं। अशोका 'छूँड़ी' (छोकड़ी) भी ऐसी ही है। ले तो गई थी चित्रा उसे कुछ और करने, उसने किया कुछ और ही। अच्छा! चित्रा दोनों को देख लेगी—देख लेगी कि यह पार्थ कितना बड़ा वीर है। और अशोका को भी वह चखा देगी मजा—शचीन बाबू से सब बातें कह देगी वह! कहाँ का एक भुखमरा छोंड़ा (छोकड़ा)! उसकी इतनी हिम्मत कि चित्रा का अपमान करे।

चित्रा ने अवरुद्ध रोष से रँगे हुए ओठ काट लिये।

'चाय लाऊँ हुजूर ?'

लाओ—कहकर चित्रा फिर किसी चिन्ता में डूब गई। कल से सोच ही रही थी। वह कौन है यह लड़की ? वह तो है—नहीं—! पालिता कन्या! और कहती है अपने को नौकरानी! चालाकी देखो इस छोटी-सी छोकरी की! नौकरानी बनने को और जगह नहीं मिली इसे!

अजय ने कमरे में प्रवेश किया। उसे चाय ढालते हुए चित्रा बोली—'कल तुम्हारे लिए रात को एक बजे तक जगती रही मैं दादा, तुम कब लौटे थे ?

'डेढ़ बजे! किन्तु तुम्हे ऐसा क्या काम था ?'

'तुम्हारा ही काम था। तुम्हारी सिप्रा के मित्र पार्थ बाबू के यहाँ गई थी।'

'खुद गई थी ? क्या हुआ ? कर सकी कुछ ?' नहीं, फीके मुख से चित्रा ने कहा—किन्तु तुम्हें चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। पार्थ बाबू के घर में उसकी मन-पसन्द बहू विराज रही है।

सिप्रा की क्या बिसात जो तीन जन्म में भी वहाँ घुस सके !

'मन-पसन्द बहू घर में है ? यह कैसे ? वह तो कुआँरा है अभी ?'

'हाँ, उसकी माँ की पालिता कन्या है वह ! अपूर्व सुन्दरी ! सिप्रा की दाल नहीं गलने की वहाँ—तुम निश्चिन्त रहो ! आगे बढ़ते जाओ !'

'केवल सुन्दरी होने से ही क्या हुआ री ? सिप्रा भी तो सुन्दरी है, और उसके बाप की जायदाद भी कम नहीं !'

'बेकार मत बको भैया—गुस्सा आता है। जायदाद का लोभ पार्थ को तिनका भर नहीं !! और वह लड़की सिप्रा से कम-से कम सौ गुनी सुन्दर है। मानो राज-कन्या हो ! मुझे जान पड़ता है ये लोग उसे कहीं से चुरा लाये हैं ! नहीं तो किसी 'गरीब' के यहाँ कहीं ऐसी सुन्दर लड़की पैदा होती है कभी ?'

'चोरी कर लाये हैं ! क्या मजाक करती है चित्रा ! किस राजा की लड़की चुरा लावेंगे भला ?'

'सुनो तो सही पहले—सुना है लड़की न किसी का मुँह देखती है और न अपना किसी को दिखाती है। पार्थ बाबू के ही पास पढ़ती है; बुर्का पहनकर परीक्षाएँ देती है। कौन सी ऐसी बात है दादा जो इतनी कड़ी देख-रेख है ? यह लड़की निश्चय ही चुराई हुई है और न भी चुराई गई हो, तो भी किसी-न-किसी धनी-मानी की लड़की तो है ही—किसकी है, यही जानना है।'

'उससे फायदा क्या ! व्यर्थ परिश्रम क्यों करती है ?'

'मुझे फायदा होगा ! पार्थ के हृदय से मैं उसे छीन लाऊँगी—मैं भी उसके मन में आग लगा दूँगी।'

चित्रा का समस्त मुख हिंसा से वीभत्स हो उठा। कुटिल दृष्टि से उसके दोनों नेत्र जल उठे। अजय उसकी ओर देखकर

बोला, 'लड़की तो किसी न किसी की होगी ही! या तो कोई अनाथ लड़की है, या कोई गरीब माँ-बाप मरते समय इन लोगों को दे गये होंगे, अथवा किसी भाग्य-विडम्बना से.....।'

'रुको भैया, ये सब बातें मैं सोच चुकी हूँ। जो हो, किसकी लड़की है यह, मुझे जानना ही है, मैं प्रयत्न करूँगी अवश्य!'

'कैसे करोगी?' अजय ने पूछा। चित्रा की हिंसक कुटिल दृष्टि से वह इतना तो समझ ही गया था कि अपमान की असह-नीय व्यथा से चित्रा तिलमिला उठी है, वह ईर्ष्याग्नि में धधक रही थी।

'मैं अपना 'प्लान' पीछे बताऊँगी; मैंने जो सोचा है यदि वही हुआ तो तुम्हें कुछ रुपया भी दिला सकती हूँ, साथ-साथ लड़की भी। पहले मैं सब ठीक कर लूँ।'

'लड़की क्या किसी बड़े आदमी की है—या तेरा ख्याल ही है?'

निश्चय वह अच्छे घराने में जन्मी है पार्थ की बहन होती तो शायद मैं कुछ भी न कहती, नहीं तो किसी गरीब के घर में ऐसी लड़की!—मैं खोज करूँगी। पता लगाकर ही छोड़ूँगी।'

'व्यर्थ परिश्रम न कर चित्रा, इससे क्या लाभ होगा तुझे?'

'तुम मुझे कोई सहायता न दो तो बाधा भी न देना।' चित्रा ने नाराजी दिखाई।

अजय चित्रा की रोष-पूर्ण दृष्टि-भङ्गी से आहत होकर रुक गया। उसे आज कई जरूरी काम थे। कपड़े पहनकर वह चला गया। चित्रा एक प्याला चाय और पीकर सोचने लगी। जैसे भी हो, वह पार्थ को पाठ पढ़ाएगी ही। उसकी रोषाग्नि से पार्थ किसी प्रकार भी नहीं बच सकता। चित्रा के सिर में मानों चिन्ता की बिजली चमक रही हो।—'अच्छा, वह इस लड़की को पार्थ

के पास से हटाकर वहाँ यदि अपना स्थान बना ले! किन्तु सिप्रा? सिप्रा को उसके पहिले ही दादा के हाथ में सौंप देना होगा। पार्थ यदि चित्रा को ग्रहण न करे तो? क्यों? वह सुन्दरी है, शिक्षिता है, मार्जित रुचि की सामाजिक लड़की है। उसको ग्रहण न करने का पार्थ के पास कोई कारण तो नहीं। नहीं ग्रहण करेगा तो उसे आजीवन अविवाहित ही रहना पड़ेगा। जहाँ भी जायगा वह, चित्रा वहीं अपनी कूट-नीति चलायेगी। दिखा देगी वह कि चित्रा को स्वीकार किए बिना प्रगति नहीं हो सकती उसकी।

असहनीय वेदना से, यन्त्रणा से उसका हृदय टूटा जा रहा था। उसने यह कभी नहीं सोचा था कि आधुनिक शृङ्गार से सजी हुई सुन्दरी का मादक रूप किसी आधुनिक युवक में घृणा भी जगा सकता था? पार्थ के व्यवहार से पहले तो चित्रा प्रभावित हो गई थी; किन्तु आज वह यह भी सोच रही थी कि इसके मूल में हैं—पार्थ की आजीवनार्जित ग्राम्य-शिक्षा और कुसंस्कार! सारे कलकत्ता में ऐसा अन्ध-संस्कार-सम्पन्न मनुष्य शायद ही मिले। इस 'अज्ञानी' का मोह चूर्ण करने पर ही चित्रा को शान्ति मिल सकेगी। वह पार्थ के समस्त कुसंस्कार को मिटायेगी ही। उसके मार्ग में प्रधान विघ्न है यह लड़की—क्या नाम है—हाँ, टूसी। नाम भी क्या सुन्दर है। चित्रा मन-ही-मन व्यंग से हँस दी। अशोका ने कहा था—पार्थ टूसी को बहुत प्यार करता है! प्यार या प्यार का ढोंग! वही पौराणिक युग के समान अबला नारी के ऊपर करुणा और शासन! और क्या? प्यार करता है तो उसे इस प्रकार बन्दी क्यों रखता है? और शादी क्यों नहीं की इतने दिनों से? अशोका ने निश्चय ही गलत समझा है। और यदि प्यार भी करता हो तो उससे चित्रा का क्या बनता-बिगड़ता

है ? उसे भुलवा देने में कितनी देर लगती है ? आज ही चित्रा फिर पार्थ के पास जायगी। आज वेश बदलकर जायगी वह।

चित्रा के विचारों में कोई सामञ्जस्य नहीं था। उसके मस्तिष्क की समस्त ग्रन्थियाँ इस आकस्मिक रूढ़ आघात से छिन्न-भिन्न हो गई थीं। वह एक के साथ दूसरी का साहचर्य नहीं पा रही थी आज। जो सोच रही थी कौन जाने वह उसी की भावनाएँ थीं या अन्य किसी की जो उसके अन्दर सोच रहा था।

वह स्नान पहले ही कर चुकी थी। कान के झुमका खोल दिए, और हाथ में दो चूड़ी और गले में सिर्फ जंजीर पहनकर उसने गेरुआ रंग की साड़ी पहिन ली। और फिर गाड़ी में चढ़-कर पार्थ के घर की ओर चल दी चित्रा।

पार्थ ग्राहकों के पास पत्र भेजने के लिए पते लिख रहा था। दूसी एक रजिस्टर से देख-देखकर पते बोलती जा रही थी। चित्रा ने प्रवेश किया। पार्थ ने विस्मित होकर नमस्कार के साथ कहा, 'आइए चित्रा देवी……।'

फर्श पर बैठकर चित्रा दूसी से बोली, 'एक ग्लास जल दो बहिन।' दूसी जल लेने चली गई। चित्रा ने इसी बीच पार्थ से पूछा, 'यह लड़की कौन हैं पार्थ बाबू—आपकी आत्मीय हैं कोई ?'

'माँ की प्रति-पालिता कन्या है। माँ ने काशी में उसे असंर-क्षित पाया था, चौदह साल आगे—जब वह शायद तीन वर्ष की थी।' पार्थ सत्यवादिता की झोंक में कहता चला जा रहा था। वह भूल गया कि बुद्धिमान् नीतिज्ञ भी होते हैं।

'ओः—अच्छा, मेरे ऊपर आपको बहुत क्रोध आया होगा उस दिन।'

पार्थ चुप रहा—वह नीचा मुँह कर लिखने लगा। दूसी जल

और मिठाई ले आई एक कांसे के पात्र में। चित्रा ने बिना कुछ कहे एक मिठाई खाकर जल पी लिया।

दूसी ग्लास और जल लेकर चली गई। चित्रा कुछ देर ठहरकर बोली—हम लोगों के अभ्यस्त समाज के प्रथानुसार ही मैंने ऐसा व्यवहार किया, अन्यथा मैं इतनी अभद्र नहीं हूँ। जितना आप समझ रहे हैं।

'सुनकर खुशी हुई चित्रा देवी, इस रीति को छोड़ देना अच्छा नहीं है क्या?'

'है किन्तु 'ढोंग' का क्या आप समर्थन करते हैं? यह जो आपकी माँ द्वारा 'पालिता' कन्या की व्रतचर्या, आपकी मेरे साथ बैठने में आपत्ति, ये सब क्या ढोंग नहीं हैं? बोलिए आप—मुझे समझा दीजिए।'

दूसी की 'व्रतचर्या' की खबर कैसे लगी इसे। पार्थ चकित हो गया। कुछ ठहरकर बोला—हम लोगों की—माने गरीब लोगों का भी एक समाज है। उसमें भी कुछ रीति-रिवाज प्रचलित हैं—हमें उन्हीं के अनुसार चलना पड़ता है, नहीं तो घर में अनर्थक अशान्ति-सृष्टि होती है।

'क्यों? चित्रा के प्रश्न में विनयपूर्ण आवेदन था।

'कारण, मेरी माँ चाहती हैं कि मैं व्रतचर्या करूँ; न करने से माँ दुःखी होंगी ही, साथ ही माँ का संस्कार जो कुछ मुझमें है, उसमें भी आघात लगेगा।'

'माँ शायद दुःखी होंगी, किन्तु असत्-संस्कार को चूर्ण करने की भी तो आवश्यकता है न।'

'असत् क्यों? संस्कार का वास मन में है; मन ने जहाँ उसे पूर्णता के साथ मान लिया, वहाँ फिर वह असत् नहीं, पूर्ण सत्य है। जिस प्रकार वन्य प्रजातियों को साँप, बाघ, आदि में भी

उनके संस्कार के आलोक में देवता प्रतीत होते हैं, सुसभ्य जाति का निराकार ध्यान भी उसी प्रकार से सत्य है। दोनों में से सिर्फ एक को ऊँच नीच कहना असहिष्णुता है, अहमन्यता है !'

'यह कैसे ? सुसंस्कृत बुद्धि का कोई मूल्य नहीं है क्या ? 'उन्नत संस्कृति' भी तो कोई चीज है ?'

'है, उसी के लिये, जिसकी सुसंस्कृत बुद्धि है और जो कुसंस्कार की भूलों को समझ गया है। किन्तु संस्कार के हाथ से मुक्ति नहीं है। आप जानती हैं।'

'जगत् के अस्तितत्व की धारणा भी तो एक महान् संस्कार ही है।'—सहसा पार्थ चुप हो गया।

चित्रा ने देखा इस ओर तर्क करने से लाभ नहीं। वह पार्थ से बहस में नहीं जीत सकती। कई मिनट तक सोचकर उसने निश्चय कर लिया कि किस प्रकार की बहस में सुविधा होगी। वह कुछ देर बाद बोली, आपके पास आने से बहुत कुछ शिक्षा मिलती है पार्थ बाबू।'

'मैं भला कितना जानता हूँ देवी—फिर भी जब आपकी इच्छा हो तभी आ सकती हैं।' पार्थ की आत्मश्लाघा पर चित्रा की चापलूसी चल ही गई।

'यदि छू लिया तो ! चित्रा के मुख पर सकौतुक हास्य था।'

'जो नारी स्नेहमयी माता, कन्या या बहिन है, उसके छूने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। हाँ आपको माँ, बहन या कन्या के रूप में आना पड़ेगा।' चित्रा चुप रही।

पार्थ फिर भी न समझ सका उसे ! उसकी सरलता ने चित्रा की चुप्पी को स्वीकृति ही समझा।

इतने में ही टूसी ने आकर कहा, 'बाजार से केवल माँ के लिए फूल लेकर ही लौट आए। आज राशन भी तो लाना है' टूसी

के लिये घर के या बाहर के व्यक्ति कुछ भी न थे। पार्थ और टूसी, सभी के सामने बचपन से लड़ते रहे थे। 'अब मैं बाजार नहीं जा सकूँगा; मुझे एक कप चाय दो।'

'चाय ही पिओ बस बैठे-बैठे—क्या राधूँगी मैं? टूसी ने मान से मुँह फुला लिया।'

'भाग मुँहजली—एक चपत लगा दूँगा अभी! काम के समय केवल तंग करती है।'

हाँ करती हूँ तङ्ग। ठहरो, मैं माँ से कहे देती हूँ।' टूसी माँ के पास नालिश करने चल दी!

'ए रुको, रुको। सब बात माँ से कहेंगी श्रीमतीजी! क्या-क्या चाहिए तुम्हें? बोलो!'

टूसी के साथ चित्रा भी हँस पड़ी। पार्थ को माँ से अजीब डर था। टूसी कई चीजें लाने को कहकर चाय लेने चली गयी। चित्रा इस लड़की के ऊपर पार्थ के अगाध स्नेह के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो गई। 'विवाह कर डालिए पार्थ बाबू—क्यों उसे व्यर्थ कष्ट देते हैं।' चित्रा ने आत्मीयता का दम भरा!

सरल हास्य का स्रोत बहाकर पार्थ बोला, 'उसे कष्ट होता है क्या? यह तो नहीं जानता।' पार्थ के दोनों नेत्रों से असीम स्नेह बरस रहा था। चित्रा का हृदय जल उठा। अब और नहीं बैठूँगी पार्थ बाबू; आपने जब क्षमा ही कर दिया है तो बीच बीच में आती रहूँगी। चित्रा नमस्कार कर चली गई।

गाड़ी में बैठकर चित्रा सोचने लगी—इस लड़की के रहते पार्थ को पाने की कोई आशा नहीं। अशोका का कथन सत्य है, यह मेघ-लोक की देव-कन्या है। कवित्व! धत्। क्या रखा है—क्या चित्रा इसके घर में आकर रसोईदारिन नहीं बनेगी? इतनी पढ़ी-लिखी होकर दासी-कर्म करेगी चित्रा एक गरीब कवि के यहाँ।

ऐसा क्या योग्य पात्र—चित्रा का कौन भाग्य फूटा है उसके पास आने को—बड़ा एक आया........किन्तु दूसी को इसके हृदय से छीन ले तो क्या मजा होगा ? चित्रा की आशा मानो सफल होती जा रही थी ! काशी में तीन साल की लड़की, चौदह साल पहले, अच्छा तो उसकी अवस्था सत्रह या अठारह वर्ष होगी—अच्छी बात है !

१५

श्री गिरीश गोस्वामी का इन्द्रजित एवेन्यू के ऊपर एक बहुत बड़ा मकान था। इस सुदीर्घ अट्टालिका के निर्माता थे स्वयं श्री गिरीश के बाप श्री इन्द्रजीत गोस्वामी। मकान देखते ही प्रशंसा करनी पड़ती थी। इसके विशाल उपवन में जहाँ क्यारी क्यारी में फूल लगे हैं, झरना भी झरता था, और टेनिस खेलने का मैदान भी था। मानो किसी के स्वागत की तैयारियाँ रहती थीं। श्री-गिरीश और श्रीमती गोस्वामी दोनों ही मकान पर थे। शायद ही वे कभी कलकत्ता छोड़कर कहीं जाते थे। दिन-रात इस विशाल प्रासाद की सफाई-सुघराई का ध्यान रखा जाता था। कारण शायद श्री गिरीश का धनिकों से 'प्रेम' था बड़े बड़े आफि-सर लोगों का उनके घर आना प्रायः रोज का काम था। वे आफि-सरों की खातिर पूर्ण साहबी सभ्यतानुसार करते थे। खूब आड-म्बर करते थे—पैसे की कोई कमी न थी। किन्तु आश्चर्य यही था कि श्रीमती गोस्वामी कभी इन बातों में भाग नहीं लेती थीं। गृह-स्वामिनी की अनुपस्थिति से प्रीति-भोज-सभाएँ बिना नमक के भोजन के समान होती थीं, उनका अभाव श्री गिरीश सुन्दरी परिवेशकाओं और निमन्त्रित महिलाओं द्वारा पूरा करते थे।

श्री गिरीश भी अद्भुत व्यक्ति थे। अँग्रेजी राज में वे सारे

जीवनभर वह एक के ऊपर एक पदवी जुटाते रहे, तो भी उनकी 'भूख' नहीं मिटी। उनका स्वभाव इतना रूखा था कि आफिसरों और उन्हीं के समान पद-मर्यादित धनिकों को छोड़कर और किसी को उनसे बोलने की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। उनकी पत्नी मान-मर्यादा से बहुत डरती थीं। केवल इसी में वे पत्नी को जीत नहीं सके, उन्हें इन पार्टियों में कभी नहीं बुला सके। श्रीमती गोस्वामी गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या तक की धमकी दे देती थीं, और श्री गिरीश ने कभी उन्हें छोड़ने की हिमाकत नहीं की।

श्रीमती गोस्वामी अन्तःपुर में अलग रहती थीं। उन्हें पूजा या पार्वण, जप-तप करने का अधिकार नहीं था। श्री गिरीश यह सब जरा भी नहीं सह सकते थे। श्रीमती गोस्वामी या तो अनेक प्रकार की पुस्तकें पढ़ती थीं, या नौकरानियों आदि के साथ ताश खेलती रहती थीं, और दिन में कुछ देर सोकर अपने दिन काट देती थीं। कभी घूमने की बहुत इच्छा हुई तो अकेली ही मोटर में बैठकर दक्षिणेश्वर अथवा तारकेश्वर के दर्शन कर आती थीं। श्रीमती गिरीश के दुःख की सीमा नहीं, वे अकेली थीं अकेली। फिर भी गिरीश चाहते रहते थे कि श्रीमती गिरीश खूब मिलें-जुलें और खूब सज-धजकर 'सोसाइटी' को पार्टियाँ दें।

दोनों की प्रकृति इतनी बेमेल होने पर भी मन में एक अजीब सा मेल भी था। श्री० गिरीश पत्नी को बहुत अधिक प्रेम करते थे। वे इतनी रूखी प्रकृति के व्यक्ति थे कि उनमें हृदय नाम की कोई चीज थी, यह कोई भी नहीं मानता था, किन्तु श्रीमती गिरीश के सिर में यदि साधारण सा भी दर्द होता था तो वे धैर्य खो बैठते थे। यही देखकर सभी अनुमान करते थे कि शायद श्री गिरीश सदा से ऐसी रूखी प्रकृति के नहीं थे। शायद उनकी कोमलता किसी एक अप्रत्याशित आघात से नष्ट हो गई थी।

किन्तु कब और कैसे नष्ट हुई, यह कोई नहीं जानता था।

श्री गिरीश को साहबी पोशाक में देखकर कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं कहता था। प्रायः साठ साल के हो गये किन्तु उनका चेहरा, मानो अंग्रेज ही हों। केवल विरक्ति और कठोरता की रेखाओं ने उनका सुन्दर मुख विकृत-सा कर रखा था। श्रीमती गिरीश एकदम हिन्दू महिला थीं। पचास या बावन की अवस्था होने पर भी देखने में अद्भुत सुन्दरी जान पड़ती थीं। चौड़ी माँग में लाल सिन्दूर देकर, जब वे लाल चौड़ी पाढ़ की साड़ी पहनतीं और बाग में आ खड़ी होतीं, तो सभी दास-दासियाँ उन्हें दूर से ही प्रणाम करतीं और मन-ही-मन कहतीं कि साक्षात् भगवती आ गईं।

उधर श्री गिरीश के बेयरा और बावर्ची और इधर लेडी गिरीश की निष्ठावती नौकरानियाँ—दोनों दल शायद ही एक दिन में एक दूसरे से मिलते थे।

जिस दिन श्री गिरीश दोपहर को पत्नी के महल में आ बैठते हैं, बस दास-दासियों का उधर से आना-जाना बन्द हो जाता था। श्री गिरीश बोलते—तुम बड़ी 'सिकली' माने 'काहिल' दीख पड़ती हो,—अच्छी तो हो न!

'हाँ'—कहकर लेडी गोस्वामी स्वामी के पास आकर बैठतीं, स्वामी के चरण छूतीं।

एक दिन ऐसे ही अकस्मात् श्रीमती गोस्वामी कह उठीं, 'तुम दत्तक पुत्र ले लो, अब देर मत करो।'

आश्चर्य से दोनों आँखें फाड़कर श्री गिरीश ने कहा—दत्तक! माने खरीदा हुआ लड़का?

'हाँ खरीदा हुआ लड़का! यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है। और·········।'

'और कुछ नहीं गौरी—दत्तक ?—दत्तक नहीं ले सकता, मैं··· यह शौक छोड़ दो।'

'क्यों नहीं ले सकते ? न लेने से काम न चलेगा ?' कहकर गृहिणी ने स्वामी की ओर ताका।

'खूब चलता है' श्री गिरीश ने पाइप जला लिया, धुँआ छोड़कर बोले—बस, इन्हीं सब बातों में तुम सिर खपाती रहती हो; शरीर दिन पर दिन घुलता जा रहा है। ये सब ख्याल छोड़ दो गौरी ! परम-भागवत राधा-गोविन्द के पवित्र वंश में आकर मिलेगा किसी एक दरिद्री का लड़का ! मैं वंश-हीन होकर ही जाऊँगा, देख लें मेरे पर-बाबा यदि आज भी कहीं स्वर्ग में हों तो।'

श्री गिरीश जोर-जोर से कश खींचने लगे। वंश-मर्यादा का ऐसा थोथा ज्ञान ही श्री गोस्वामी चिरकाल से वहन कर रहे थे, किन्तु वे स्वयं इस वंश के कलङ्क थे, और यह बात वे स्वयं ही सबके सामने प्रचार करते थे। कहते, 'मेरे रक्त में विशुद्ध ब्राह्मण की अग्नि है; शराब, मांस, मुर्गी सब जलकर भस्म हो जाते हैं इसमें; इससे क्या श्रीराधागोविन्द गोस्वामीजी के रक्त की हानि होती है ?'

किन्तु उस दिन गृहिणी बहुत ही बिगड़ गईं—'जाओ भी, रक्त की शान और मत बघारो। यदि तुम्हारे शरीर में उनका रक्त है भी, तो वह इन बावर्चियों के पकाये हुए मुर्गी के शोरवे की गर्मी से पानी बना और पसीना होकर निकल भी गया।'

गृहिणी को बिगड़ते देख श्री गोस्वामी बिगड़े नहीं। यह उनका स्वभाव था। बोले—'गया तो गया; उसके लिए कौन रोता है ! मुझे नहीं चाहिए लड़के-लड़कियाँ, तुम यह सब जिद भूल जाओ।'

'नहीं—भूल नहीं सकती मैं— मैं जानती हूँ, मेरे ही कारण आज ठाकुर का पवित्र वंश.......।'

'ठहरो गौरी—श्री गिरीश ने धमकी दी। और बात कहना हो तो कहो। तीर्थयात्रा करोगी—कर आओ—व्यर्थ बकबक कर समय मत नष्ट करो।'

गृहिणी डर गईं। बिगड़ने पर श्री गिरीश को किसी प्रकार नहीं सँभाला जा सकता था। किन्तु जब तीर्थयात्रा की आज्ञा मिल गई तब उन्हें आनन्द ही हुआ, बोलीं,—'मैं तीर्थयात्रा करूँगी, और तुम क्या करोगे ?'

'क्यों ? मैं तो मजे में हूँ—मैं एक बार फिर विलायत घूम आऊँगा। गिरीश पाइप में कश लगाते हुए बोले 'किन्तु तुम इतने दिन बीतने पर भी अपने को सँभाल नहीं सकीं गौरी।'

'और तुम शायद सँभाल चुके हो ! मैं कुछ नहीं समझती जैसे —क्या थे और क्या हो गये तुम। पार्टियाँ और सम्मान तुम्हारा दिन-रात का स्वप्न बन गया है। क्या होगा उससे ! क्या तुम्हारे पुरखाओं की ध्वजा फहरायेगी इससे, बताओ तो ?'

गृहिणी अत्यन्त उत्तेजित हो गईं। सदा से शान्त प्रकृति की होने पर भी कभी-कभी उनमें ऐसी ही आँधी-सी आती थी। श्री-गिरीश बहुत देर चुप रहकर बोले, 'अब क्या किया जाय और; बोलो। रुपया तो खर्च करना ही पड़ेगा, साथ में यदि सम्मान-रक्षा भी हो तो हर्ज क्या है ? इस समय जिस 'पोजीशन' में आ पहुँचा हूँ उसमें और रुका नहीं जाता—समझीं ? रुका नहीं जाता अब।'

'क्यों नहीं रुका जाता—किसलिये नहीं रुका जाता।'

'इसीलिये नहीं रुका जाता कि आज मैं भारत के यहाँ तक कि विलायत के व्यक्तियों के निकट भी 'सम्मानित' व्यक्ति हो गया हूँ। आज यदि तुम्हारे एक लड़की या लड़का होता तो मैं किसी

'राजकुमारी से उसका सम्बन्ध कर सकता था। शायद भारत के सर्वश्रेष्ठ सम्मानित व्यक्ति के लड़के या लड़की को ब्याह लाता।'

'किन्तु वह यदि नहीं है तो क्या सिर्फ सम्मान से ही उस कमी को पूरा कर दोगे ? उससे क्या तुम्हारे पुरखे सन्तुष्ट होंगे।'

देशाचार गौरी ! पितामह का एक युग था और, हम लोगों का एक और—जब जैसा समय हो तदनुसार ही चलना पड़ता है; पिताजी मध्ययुग में खूब मजे में काट गये। किन्तु मुझे अब जाना है।' श्रीगिरीश चलने लगे। 'नहीं, जाना नहीं है। आज मैं कुछ ठीक-ठाक कर ही लूँगी। कहो तुम, तुम्हारी ये पार्टियाँ और सम्मान-लालसा और कब तक तुम्हारे इष्ट-मन्त्र बने रहेंगे।'

श्रीगिरीश अबकी बार धौंस देकर बोले, 'आमरण रहेंगे—अन्टिल माई डेथ। मरने के बाद भी रहेंगे—समझीं। 'सम्मानित व्यक्ति अपना 'सम्मान' नहीं खो सकता।'

'खोने को नहीं कह सकती मैं, बहुत हो चुका है, अब छोड़ो।'

'इसका मतलब यह है कि श्री गिरीश अब पार्टियाँ न दें' राजा-महाराजाओं के घर न जायँ, अर्थात् उनकी 'सिविल डेथ' या सामाजिक मृत्यु हो जाय—क्यों यही न।' 'मैं क्या यही कह रही हूँ।' श्रीमती गोस्वामी ने करुण स्वर में कहा।

'तुम जो कहती हो उसका अर्थ यही है।' श्री गिरीश ने पाइप में तम्बाकू भर लिया। मुख की विरक्ति द्वारा उनकी सुन्दर मुखाकृति डरावनी हो गई। गृहिणी चुप हो गईं।

श्री गिरीश को कहीं बाहर जाना था, उन्होंने घड़ी देखी। अब भी समय था। वे दोनों ही चुप थे। निःशब्द स्तब्धता से घर का वातावरण भारी हो उठा। इतने में ही बेयरा ने एक चाँदी की तश्तरी पर एक टुकड़ा कागज लाकर दिया। श्रीगिरीश ने नाम देखकर गृहिणी के पास ले जाने का इशारा किया। गृहिणी

कार्ड का नाम देखकर बोलीं, 'फिर आयी है कोई किसी सभा का निमन्त्रण देने। मैं यह सब नहीं कर सकती भाई। क्या मुसीबत है ?'

'मुलाकात करके जवाब दे दो—पुलिस का सम्मन तो नहीं है।' श्री गिरीश ने उपेक्षा दिखाते हुए कहा।

श्रीमती गोस्वामी ने इसी कमरे में अतिथि को ले आने को कहा। चित्रा कमरे में आ गई। बड़ी भावभङ्गिमा से कहा, कष्ट दिया है, क्षमा करिएगा।'

'नहीं बेटी—कष्ट नहीं दिया—बैठो।' 'क्या कहना चाहती हो ? ध्यान आता है कि तुम्हें कहीं देखा है मैंने।'

हाँ, प्रायः एक वर्ष पहिले मैं आपके पास आई थी कालिज में पारितोषिक वितरण कराने के लिये; आप गई नहीं थीं; न जाने का कारण भी बताया था।'

फिर वैसा ही कुछ अनुरोध है बेटी ?'

'नहीं—जो कारण उस दिन बताया था, उसी के सम्बन्ध में कुछ जानना है।'

श्रीमान् एवं श्रीमती गिरीश सुनने के लिये उत्सुक हो गये। कुछ ठहरकर चित्रा ने कहा, 'अपनी एकमात्र कन्या को कितने दिन पहिले और कहाँ खोया था आपने; क्या बता सकेंगे ?'

'क्यों, क्यों मिस्—तुम क्या....?'

कहती हूँ मिस्टर गोस्वामी—मेरी बात का जवाब तो दीजिए पहले।'

'मैं काशी में मनौती पूरा करने गई थी, वह तब तीन वर्ष की थी। शरीर पर गहना था, नौकरानी गोद में लेकर घुमाने गई थी, न नौकरानी लौटी और न लड़की ही—कहते-कहते श्रीमती गोस्वामी 'हा हा' करके रो उठीं।'

'आः—चुप करो न। तुम्हें क्या कुछ पता लगा है मिस्?' श्री गिरीश ने बहुत व्यस्त होकर पूछा।

'यह कितने दिन आगे की घटना है?' चित्रा ने उनके प्रश्न को उड़ाकर फिर पूछा, 'निश्चय ही आप लोगों ने विज्ञापन दिया होगा समाचार-पत्रों में? तारीख ढूँढ निकालिए।'

'पाँच साल तक विज्ञापन निकाला और दस हजार रुपये का पुरस्कार भी रखा था। किन्तु।'—श्री गिरीश बहुत उत्तेजित हो उठे। 'तुम्हें क्या कुछ खोज-खबर लगी है, बोलो—मैं तुम्हें पुरस्कार देता हूँ।'

चित्रा का मन उल्लसित हो उठा। किन्तु उस भाव को छिपाकर बोली चिन्तित मुख मुद्रा से—'मुझे खोने वाले दिन की तारीख मालूम होनी चाहिए—नहीं तो कुछ ठीक नहीं कह सकती। श्री गिरीश ने उसी क्षण उठकर 'पत्रिका' आफिस में फोन किया। उन्होंने बताया १६३८ साल की बीसवीं मार्च को सर गिरीश की एक मात्र कन्या अपहृत हो गई थी।

हिसाब लगाकर चित्रा ने देखा ठीक चौदह वर्ष हुए हैं। आनन्द से उसके दोनों नेत्र नाच उठे। रोना बन्द कर लेडी गिरीश इतनी देर तक उन लोगों की बातें सुन रही थीं—वे करुण-कंठ से बोलीं, 'वह क्या बची हुई है? तुम जानती हो कुछ?'

'हाँ बची हुई है श्रीमती गोस्वामी, और बड़े कष्ट में है। है इसी कलकत्ते में किन्तु!'

'क्या कह रही हो तुम! कष्ट में है श्री गिरीश की लड़की, कहाँ है वह? बेयरा, गाड़ी—गाड़ी ले आओ, जल्दी!'—श्री-गिरीश जैसे उच्छृंखल हो उठे हों। चित्रा शान्त भाव से बोली, चेहरे पर हँसी लाकर 'ठहरिए मिस्टर गोस्वामी; इतनी जल्दी उसे नहीं ला सकेंगे।'

'क्यों ?—क्यों नहीं ला सकता। जिन्होंने रखा है उनका सब खर्च पूरा कर दूँगा और भी दस हजार अधिक दे दूँगा—कहो तुम, कहाँ है वह—ए, चेक-बुक ले आ—चेक-बुक—।'

चित्रा चुप रही। क्या कहे—यह सोचने लगी। बेयरा चेक-बुक ले आया। सर गिरीश ने तत्क्षण दस हजार रुपये का एक चेक लिखकर चित्रा के हाथ में दे दिया—लो, कहो अब।

चित्रा ने चेक की तह करते करते कहा, 'मुझे जितना भी सन्देह होता था वह श्रीमती गोस्वामी को देखकर हट गया। वह आप लोगों की ही लड़की है, बिलकुल एक चेहरा है, बस छोटे और बड़े होने का भेद है—किन्तु....।'

किन्तु क्या बेटी ? कहो तुम—श्रीमती गोस्वामी अधीर होकर बोलीं।

'यदि वे लोग न दें ?'

'देंगे नहीं ? मेरी लड़की को देंगे नहीं ? पुलिस में खबर किए देता हूँ मैं, मैं उन्हें जेल भेजवा दूँगा—मेरी लड़की वापस न करे यह किसकी मजाल है।'

श्री गोस्वामी मूर्तिमान् अग्नि बन उठे।

पुलिस में खबर देने पर क्या पार्थ को दण्ड मिलेगा ? चित्रा ने सोचा। नहीं, इतना नहीं करना चाहिए। तब तो फिर पार्थ से मिल भी नहीं सकती। चित्रा ने सोचा और धीरे-धीरे कहा—'वैजयन्ती' नाम के एक पत्र का सम्पादक है—पार्थ है नाम उसका, नितान्त गरीब—उसीके घर में हैं आपकी लड़की; खाना भी नहीं मिलता है अच्छी तरह—चाँटा चपेटा भी खाती है बीच-बीच में, लोगों से कहती है—'इस घर की दासी हूँ मैं।'

श्रीगिरीश अधीर हो गये। उनकी एकमात्र कन्या एक दरिद्र के घर की दासी ? इससे अधिक दुखदायी और क्या हो सकता

है। वे क्रोधान्त हो उठे। 'कहाँ है—कहाँ है उस 'स्काउन्ड्रल' का घर? चलो, दिखा दो, मैं उसे अभी मजा दिखाता हूँ—चलो, आओ।'

श्रीमती गोस्वामी बोलीं, 'पहले देख लो, वही तुम्हारी लड़की है या नहीं?'

'कैसे देखूँगा बिना आँखों को दिखाए।'

'क्या नाम है उसका?'

'टूसी, वही आपकी लड़की है इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु पुलिस के हङ्गामे की क्या जरूरत है? आप पार्थ बाबू को बुलाकर सब बातें पूछिए।'

'वह यदि छिप जाय तो'—श्रीगिरीश ने कहा, 'यदि न आये तो?'

'तो मैं हूँ—गवाही दे दूँगी, और तब पुलिस की सहायता भी लेनी पड़ेगी।'

श्री गिरीश उसी समय चिट्ठी लिखने बैठ गये। हृदय के अत्यधिक उत्ताप से उनका सर्वाङ्ग काँप रहा था; अग्नि निकलने का पहला लक्षण था। बेयरा ने आकर कहा, 'गाड़ी आ गई हुजूर!' सर गिरीश ने उसे बुलाकर कहा, 'यह चिट्ठी लेकर अभी चला जा, गाड़ी ले जा—इस बाबू को यहाँ बुला ला। यदि न आवें तो पास ही में कहीं से फोन करना और निगाह रखना जिससे भाग न भाग जाय—समझा?'

बेयरा सलाम कर बाहर चला गया।

१६

पार्थ की नींद अभी टूटी ही थी-बिस्तरा छोड़ा नहीं था, टूसी आकर खड़ी हो गई, आज चाय नहीं मिलेगी—तुम्हें कष्ट होगा!'

'इतने दिन संयम का अभ्यास कर एक दिन चाय न पी सकने से ही कष्ट होगा, तूने मुझे क्या समझा है टूसी ! कुछ कष्ट नहीं होगा मुझे ।' कहकर पार्थ उठ खड़ा हुआ ।

'हाथ-मुँह धोकर मेरे लिये एक जोड़ा बेल और फूल आदि सब ला दो ।'

'मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा; एक जोड़ा बेल लाऊँ एक जोड़ा बैगन लाऊँ, दुनियाँ भर की·····।'

टूसी ओठ फुलाकर रुँआसी होकर बोली 'कौन लावेगा फिर ? कौन है और मेरा ?' पार्थ ने हँसकर कहा,—'जा—जा—अभी लाये देता हूँ सब ! क्या मान है ! बाप रे !'

माँ के पास आकर पार्थ खड़ा हुआ, 'माँ, और कितने साल लगेंगे तुम्हारी टूसी को यह जोड़ा-जोड़ा हाथी-घोड़ा करते-करते ? दस साल तो हो गये !

'और दो साल; बेटा,—बारह वर्ष का संकल्प किया था—तू पूजा-मन्त्र सुन लेना एक बार, सब भूल तो नहीं गया ?'

'नहीं माँ, कैसे भूल जाऊँगा । किन्तु वह ब्राह्मण-भोजन नहीं करायेगी क्या ? तो फिर क्या व्रत हुआ ।'

'कल खिलायेगी ! आज उपवास कर राँध नहीं सकेगी ! साँझ को पूजा करेगी इन आषाढ़ के लम्बे दिनों में, बच्ची ही तो है, इतना कैसे कर पावेगी ?'

'इस व्रत का क्या फल है ऐसा—इतना कष्ट करना ! क्या होता है इससे ?'

निर्विघ्न उद्यापन होने पर कभी स्वामि-विच्छेद नहीं होता बेटा । स्वामी का सदा कल्याण होता है ।'

'वाह ! तुम भी खूब हो माँ ! अपने ही लड़के के कल्याण के लिये उसे तुम इतना कष्ट देती हो !'

'चुप रहो तुम !—माँ ये ऐसा कहेंगे तो मैं पैरों में सिर ठोंक डालूँगी।—टूसी बनावटी क्रोध से लाल हो गई। पार्थ को मजा आ रहा था। हँसकर बोला, अच्छा, माँ! हठात् यदि उस पर कोई अधिकार जताने लगे तो—यदि ले जाय तो ?'

'जा—क्या बकता है तू! मैं क्यों ले जाने दूँगी ?'

'नहीं ले जाने दोगी, यह तो जानता हूँ; घूँघट की ओट में छिपा रखा है न ! किन्तु कोई देखकर पहिचान ले तो—?'

वह कोई बड़ी बात नहीं बेटा, यदि उसके माँ-बाप सचमुच हैं तो क्या मैं उन्हें रोक सकती हूँ ? उनकी भी तो लड़की है ! उनकी ही तो सन्तान खोई थी। किन्तु घूँघट की कड़ाई रखना तो अच्छा ही है, कलकत्ता बड़ी खराब जगह है, नारीहरण, निर्यातन रोज ही तो समाचार-पत्रों में पढ़ते हो बेटा……।'

पार्थ ने मुँह धोकर कहा, 'चाय तो अब मिलेगी नहीं, तुम धर्म करो और मैं व्रत करूँ, खूब मजे की बात है।'

'हाँ—करोगे नहीं—ऐसे ही……अच्छा जाओ, मेरी पूजा के फल ला दो पहले—देर होने से सब बिक जाएँगे जो।'

'जाता हूँ मालकिन—साँझ को पूजा करनी है और सवेरे ही से जल्दी पड़ गई !

पार्थ बाहर चला गया। टूसी अपने 'उमा-महेश्वर' व्रत की अन्य चीजें जुटाने लगी। माँ भी आज व्रत करेंगी—रसोई का झमेला नहीं करना। घर भर में टूसी चौक पूरेगी, पिट्ठी पीस-कर रख ली थी। पूजा की जगह खूब अच्छी तरह धो दी। उसके बाद इधर-उधर के अनेक काम करती रहीं। गंगा नहाकर पार्थ फूल-फल बेल-पत्र आदि खरीदकर आफिस लौट आया। उसे और कहीं नहीं जाना था। उपवास किए है, टूसी की व्रत-पूजा उसे ही करानी थी। पार्थ सोचने लगा—माँ भी खूब हैं भाई!

सुन्दरी कन्या के अत्यन्त ज्वलन्त रूप के सामने ही पार्थ को रख-कर उसके संयम को परख लिया। टूसी के साथ मिलने-जुलने का उसे अबाध अधिकार मिला था किन्तु बस यहीं तक! माँ ने इच्छा करके ही पचीस वर्ष तक पार्थ को अविवाहित रखा। विगत फागुन में पचीस वर्ष पूरे भी हो गये, इस बार माँ शायद एक दिन—किन्तु यह सब क्या सोच रहा है पार्थ! माँ का काम तो माँ इच्छानुसार करती ही रहेंगी। पार्थ वैष्णव-दर्शन की एक किताब खोलकर बैठ गया। दिन ढल रहा था, बहुत कम समय बाकी था। टूसी ने एक सुन्दर धूपदानी में पार्थ के पास धूप जला-कर रख दी थी।

'इतना समय रहते धूप क्यों जला दी अभी से ?

'अकेले बैठे हो, इसी को साथी बना लो!'

'दुष्ट। अशरीर धुएँ को तू मेरा संगी बनाना चाहती है।'

'सुगन्ध तो है जी!' कहकर टूसी हँसती हँसती चली गई!

पार्थ सोचने लगा—हाँ, सौरभ है! इसी समय दरवाजे पर श्रीगोस्वामीजी की गाड़ी आ खड़ी हुई। झकाझक तकमा पहिने एक बेयरा ने आकर पार्थ के हाथ में चिट्ठी रख दी। पार्थ ने पढ़ा, 'महाशय, आप यह पत्र पाते ही मेरे यहाँ चले आइए। बहुत जरूरी काम है—मिलने पर कहूँगा!

श्रीगिरीश गोस्वामी,
१७ इन्द्रजीत् एवेन्यू,
कलकत्ता

'कौन श्रीगिरीश हैं ये ? श्रीगिरीश (पुराने सर गोस्वामी) हैं क्या ?' पार्थ ने बेयरा से पूछा।

'जी—हुजूर!'

पार्थ अचम्भे में पड़ गया। ऐसे आदमी ने उसे इस तरह

क्यों बुलाया ? पार्थ के साथ तो उनका कोई परिचय नहीं था ! पार्थ ने कभी उन्हें देखा भी नहीं था ! पार्थ के साथ उसका क्या प्रयोजन हो सकता था ?

किन्तु उन्होंने जब बुलाया है तो जाना ही चाहिए, पार्थ उठ खड़ा हुआ। 'खूँटी' से कुर्ता उतारकर पहिना। उसे ख्याल आया कि टूसी की पूजा करानी है उसे। चलो—कितनी देर लगेगी इसमें ? पार्थ ने माँ को बुलाकर कहा, मैं अभी आ रहा हूँ माँ, पूजा तो टूसी को पाँच बजे बाद ही करनी है न !—लौट आऊँगा तब तक।' पार्थ जाकर गाड़ी में बैठ गया !

एक प्रकाण्ड हाल में श्रीगिरीश गोस्वामी आबद्ध सिंह के समान घूम रहे थे। चित्रा श्रीमती गिरीश के साथ एक सोफे पर बैठी थी। श्रीमती गिरीश के मन में आशा-आनन्द-आवेग आदि का एक अद्‌भुत समावेश हो रहा था।

'मेरी लड़की 'दासी' ! इतनी हिम्मत उन लोगों की ? खूब कष्ट दे रहे हैं मिस राय ? खाना भी नहीं देते अच्छी तरह ?' श्री गिरीश ने चित्रा से पूछा।

'यही देखा श्री गोस्वामी—मेरे सामने ही तो कहा पार्थ ने 'मार खायगी।' 'अच्छा'''आये न एक बार ! दिखाता हूँ मजा !'

कमरा निस्तब्ध था। गाड़ी आकर बरामदे में खड़ी हो गई। बेयरा के साथ पार्थ नीचे उतर आया। कमरा दिखाकर बेयरा ने सलाम किया और हट गया। पार्थ उस सुसज्जित प्रकाण्ड हाल में अन्दर चला गया। चित्रा जा रही थी किन्तु श्रीमती गिरीश ने कहा, 'ठहरो तुम।' चित्रा बैठ गई। दोनों हाथों से नमस्कार कर पार्थ ने सविनय कहा, 'आपने क्या मुझे बुलाया है ?'

'हाँ, पार्थ आप ही का नाम है न ? बुलाया गया है आपको।'

पार्थ को उनके कठोर स्वर से आश्चर्य हुआ। क्या कहेंगे ये ? पार्थ प्रतीक्षा करता रहा—चित्रा ने मुख फिरा रखा था, किन्तु पार्थ ने उसे देख लिया था।

'आपके घर में एक लड़की है—टूसी नाम है जिसका ?' पार्थ चुप रहा। उसी क्षण समझ गया चित्रा जासूस भी है! बोला, 'हाँ है।'

'आपके घर की 'दासी' है वह क्यों ?'

'मेरी माँ ने उसको कन्या के समान पाला है—'वह स्वयं अपने को दासी कहती है !'

'झूठ मत बोलो—नहीं तो जेल जाना पड़ेगा! कहाँ पाया था तुम लोगों ने ?' श्री गिरीश क्रुद्ध हो उठे।

पार्थ का दिल तेजी से धड़कने लगा। उसने आत्मसंवरण कर जवाब दिया, 'मेरी माँ जब काशी में गंगा-स्नान करने जा रही थीं तो उन्होंने एक गली में देखा कि छोटी-सी एक लड़की रो रही थी और एक औरत उसके गहने उतारे ले रही थी! माँ साथ के नौकर को लेकर जैसे ही पहुँची कि वह औरत भाग खड़ी हुई। माँ लड़की को उठा लाईं। उसके बाद माँ दस दिन काशी में रहीं, किसकी लड़की है यह खोज करने के लिये, किन्तु कोई खबर नहीं मिली !

'अखबार में विज्ञापन क्यों नहीं दिया ?' कड़े स्वर में सर गोस्वामी ने कहा !

'मेरी माँ गाँव की है और मैं उस समय छोटा था, विज्ञापन के विषय में हम लोग कुछ भी नहीं जानते थे। किन्तु क्या बात है ?'

'चुप रहो! 'स्टुपिड्! क्या बात है, यही कहने को तुम्हें बुलाया है।'

पार्थ बिना बात गाली सुनने से क्षुब्ध हो गया।

'वह मेरी लड़की है—मेरी ही लड़की काशी में चुराई गई थी। उसे तुमने और तुम्हारी 'माँ' ने दासी बनाकर रखा है—तुम्हें पुलिस में दूँगा!'

'दासी! हाँ, दासी ही बना रखा है। अच्छा है, आपकी लड़की है तो आप ले लीजिएगा। किन्तु वह आपकी ही लड़की है, इसका कुछ प्रमाण है?'

'प्रमाण! मेरी ये दो आँखें—समझे?' श्री० गिरीश गर्ज कर बोले। 'आज ही मैं उसे ले आना चाहता हूँ—कितने रुपये चाहिए तुम्हें उसके चौदह वर्ष के खाने-पीने के?' पार्थ आहत होकर भी चुप रहा। श्री० गिरीश फिर बोले, 'रुपया लेकर नहीं दोगे तो जेल में जाना पड़ेगा।'

पार्थ ने कहा; 'क्यों आप उत्तेजित होते हैं महाशय? नहीं देंगे यह तो हमने नहीं कहा–फिर भी आपको यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि वह आपकी लड़की है। और रुपया लेने के लिये मेरी माँ ने उसे पाला भी नहीं—इतना कष्ट करके।'

'दासी' बनाने के लिये पाला था तुम्हारी 'बजात' माँ ने।'

'खबरदार'—पार्थ क्षण भर में आग हो उठा।—'और एक भी बात माँ के सम्बन्ध में कही तो जीभ खींच लूँगा, अभद्र कहीं का!'

'क्या! तेरी इतनी बड़ी हिम्मत।'

'रामसिंह!'

पार्थ शान्त होकर खड़ा रहा। धीरे से बोला, 'आशा करता हूँ आप दूसरे के पिता–माता के सम्बन्ध में सम्मान के साथ बोलेंगे क्योंकि आज आप एक पिता के पद से बोल रहे हैं।'

'चुप रहो—रामसिंह—यहाँ खड़ा रह। इस गुण्डे को भागने न देना।'

पार्थ ने कहा 'उससे कुछ नहीं होगा, दस बारह आदमी बुलाइए मुझे खूब अच्छी तरह लाठी चलाना आता है। सचमुच गुण्डा हूँ मैं। किन्तु झगड़े से क्या होगा श्री गोस्वामी? आपकी लड़की का क्या नाम था कहिए मुझे उसी से प्रमाण मिल जायगा, वह जो फ्रॉक पहिने थी उस पर उसका नाम था। यह नाम दूसरा और कोई नहीं जानता।'

'टूसी' तो तुम लोगों का रखा नाम है—बड़े आदमी की लड़की का यह नाम?'

'हम लोगों को तो यह पता नहीं था कि यह 'सर' गिरीश की लड़की है। हमारी माँ ने उसे खूब 'टुकटुके' (गौरी) देखकर टूसी नाम रख दिया था।'

श्रीमती गोस्वामी ने कहा, 'मेरे श्वसुर ने 'देव श्री' नाम रखा था।'

पार्थ का मुँह पीला पड़ गया। नहीं, अब भ्रम नहीं है सचमुच टूसी इन्हीं की लड़की है। कभी पार्थ अधीर नहीं हुआ किन्तु आज वह इस असह्य दिल की धड़कन को सँभाल नहीं सका। चित्रा ने उसे आड़े नेत्रों से देखा। पार्थ ने किसी प्रकार कहा, 'हाँ—तो वह आपकी ही लड़की है—कल उसे ले आइएगा।'

'मैं आज ही, अभी ले आना चाहता हूँ उसे। उसे एक क्षण, एक क्षण भी उस नरक-कुण्ड में नहीं छोड़ सकता—चलो। बेयरा, गाड़ी लाओ।'

'आज नहीं—आज के दिन की भीख दे दीजिए। आज उसका व्रत है।' पार्थ ने विनीत कण्ठ से कहा।'

'मैं व्रत-नियम कुछ नहीं मानता।' यह सब उसे छोड़ना पड़ेगा—उसे यहाँ 'सोसाइटी गर्ल' बनना पड़ेगा। तुम लोगों ने उसे कुसंस्कारपूर्ण शिक्षा देकर मेरा सर्वनाश कर दिया है।'

हम लोगों ने अपने समान ही उसे बड़ा किया है। आप अपने समान बना लीजिएगा! किन्तु आज मैं उसे नहीं भेज सकता।'

'क्या अधिकार है तुम्हें उसे रोक रखने का। जेल जाना पड़ेगा, समझे?'

'मेरी माँ के चौदह वर्ष पालन करने का अधिकार! वह मेरी माँ के संरक्षण में उपवास कर रही है; उसकी पारण होने तक मैं उसे नहीं आने दे सकता। उसके धर्मकार्य की पूर्णता कराना हमारा कर्तव्य है।'

'अच्छी बात है—मैं पुलिस बुलाता हूँ—क्यों?'

'बुला लीजिए; तब भी तीन-चार घण्टे तो मिल ही जायँगे मुझे!'

श्रीमती गोस्वामी बीच में आकर बोलीं, 'जो चौदह वर्ष वहाँ रही है उसका एक दिन में ही और क्या बनेगा-बिगड़ेगा। तुम जाओ बेटा, उसका व्रत-पूजा आदि कराओ""जाओ।'

'नहीं! नहीं! चिल्ला उठे गोस्वामी! व्रत उसे छोड़ना ही पड़ेगा। यह सब ढोंग मेरे घर में नहीं चलेगा। कहाँ के ये सब कुसंस्कार! अभी लाऊँगा मैं उसे!'

'बेकार चिल्लाइए मत, श्रीगोस्वामी; मेरी माँ के पास से उसे पकड़ लाने की किसी की सामर्थ्य नहीं। मुझे केवल तीन-चार घण्टे का समय दे दीजिए—मैं उसको व्रत-पूजा करने के बाद खाना खिला दूँ—उसके बाद आप ले आवें उसे।'—पार्थ की आँखों से आँसू आ गये।—'आपसे मैं तीन घण्टे की भीख माँगता हूँ। मेरी अन्तिम भीख है यह!'

श्रीगोस्वामी ने एक मिनट तक कुछ सोचा। कहा, 'अच्छा इस समय साढ़े चार बजा है; मैं स्वयं ही आठ बजे आऊँगा उसे

लेने। इसी बीच सब ठीक कर रखना। मुझे वहाँ जाकर खड़ा न रहना पड़े—तुम्हारी उस बस्ती में।' पार्थ ने थोड़ा सिर नीचा कर लिया। उसके दिल में जैसे कुछ हो रहा था। वह क्या गिर ही पड़ेगा! एक कुर्सी का सिरा पकड़कर वह सँभल गया।

'रुपया ले जाओ; सौ रुपये महीने, चौदह साल के सोलह हजार आठ सौ हुए, मैं सत्रह हजार देता हूँ—लो।'

घृणा से पीछे हट गया पार्थ। मनुष्य की अमानुषिकता की कोई हद नहीं क्या!—'अपना रुपया रद्दी की टोकरी में फेंक दीजिए महाशय, अच्छा लगेगा!' कहकर जोर से पार्थ बाहर चला गया।

रास्ते में आते ही पार्थ एक टैक्सी में कूदकर आ बैठा। बोला, 'कालिज् स्ट्रीट, जल्दी....'

टैक्सीवाले ने एक बार पार्थ के मुख की ओर देखकर ही गाड़ी छोड़ दी। बहुत दूर का रास्ता था; टालीगंज से कालिज् स्ट्रीट—जाने में आधा घण्टा से कम नहीं लग सकता था।

'जोर से। जोर से चलाओ'—पार्थ का आग्रह जैसे रुदनपूर्ण था। टैक्सी की गद्दी पर वह जैसे अर्द्धमूर्च्छित पड़ा था। उसके दोनों नेत्रों में जैसे किनारे से टक्कर खाती हुई अश्रुतरंगें उठ रही थीं। पार्थ रो रहा था। रोना क्या है पार्थ ने जीवन में कभी न जाना था। वह किसी दिन भी नहीं रोया था। पितृ-वियोग कैसा होता है, यह वह जानता ही नहीं था। पार्थ—माँ का लाड़ला बेटा—आज रो रहा था।

उसका जीवन तो माता के आशीर्वाद से पवित्र था, उसमें यह कैसी विडम्बना। जीवन भर की हमजोली, उसके दिल की धड़कन, टूसी को बिदा देनी पड़ेगी। लम्बे-लम्बे चौदह वर्षों तक टूसी पार्थ के मन-प्राण पर अधिकार किए हुई थी। उसके

जीवन-राज्य की वह सम्राज्ञी बनी रही है। उसी टूसी को—ओह! वह सोच भी नहीं पाता था, उसकी चिन्ता-शक्ति ही मिट गई थी। 'टूसी'—पार्थ अस्फुट स्वर में आर्त्तनाद कर उठा।

चौदह वर्षों के वनवास के बाद तो राम भी लौट आये थे, और उसे—चौदह वर्ष बाद—टूसी को जन्म भर के लिए विदा देनी पड़ेगी। उसके ऊपर पार्थ का कोई अधिकार नहीं था—नहीं—पार्थ का कोई अधिकार नहीं था! उसके बाप से प्रार्थना? निष्फल होगी! वे तो टूसी को 'सोसाइटी गर्ल' बनाना चाहते थे, बनाएँगे ही; सरकारी महलों में उन्हें अपना मान जो अक्षुण्ण रखना था।

शहनाई बज रही थी एक घर में,—किसी की शादी थी। पार्थ चौंक पड़ा। आँखों के आँसू पोंछकर उसने उस घर की ओर ताका। जान पड़ा गोधूलि लग्न थी; ड्योढ़ी पर आमन्त्रित महिलाएँ खड़ी थीं। माँ टूसी को पार्थ के हाथों में देना चाहती थी—'माँ की इच्छा पूर्ण नहीं हुई। पूर्ण नहीं हो सकी पार्थ की माँ की इच्छा—असम्भव! नहीं, माँ की इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती—निश्चय ही पूर्ण होगी—माँ तो महादेवी हैं। पार्थ निश्चय ही टूसी को पावेगा, माँ का आशीर्वाद क्या पार्थ के जीवन में व्यर्थ होगा। कभी तो नहीं हुआ—आज क्यों व्यर्थ होगा—क्यों व्यर्थ हुआ?'

'किन्तु यह क्या कह रहा है पार्थ! कालिज् स्ट्रीट जो आ गई! यदि पार्थ इस प्रकार के उद्भ्रान्त वेश में माँ के पास पहुँचेगा, तो माँ और टूसी दोनों ही मूर्च्छित हो जायँगी।'

'पार्थ क्या दुर्बल हो गया है? इतना भी मन का संयम नहीं उसे। पहले टूसी की व्रत-पूजा समाप्त करानी पड़ेगी। उसके बाद रोना—वह तो है ही—रोने को तो पार्थ के पास जीवन भर पड़ा है।

'ठहरो !'—पार्थ घर के नजदीक आकर टैक्सी से उतर पड़ा। भाड़ा देकर रास्ते के एक नल पर आँखें और मुँह धोकर वह हँसा—थोड़ा सा—असीम उदार नील आकाश की ओर ताककर। जान पड़ा पार्थ ने कुछ अपने को सँभाल लिया था।

भीतर से द्वार बन्द था। किसे बुलावेगा वह, माँ को ?—नहीं, टूसी को ही। और एक बार बुला ले पार्थ—आज ही तो अन्तिम दिन है ! अब भी टूसी उसी के अधिकार में थी; इसके बाद बुलाने के लिये और कुछ नहीं सोचना—वह सदर द्वार खुला ही रक्खेगा।

'टूसी !'

'आती हूँ'—कहती हुई दौड़ते हुए आकर टूसी ने द्वार खोल दिया। पार्थ के चेहरे की ओर ताककर बोली—दिन भर कुछ न खाने से तुम्हारा मुँह निकल आया है। पार्थ ने टूसी के मुख की ओर देखा। उपवास से क्लिष्ट और करुण थी उसकी मुखच्छवि। टूसी मूर्तिमती पवित्रता के समान थी—पार्थ ने उसे इतना सुंदर और कभी नहीं देखा था, विदा का दिन होने के कारण उसको ऐसी तीव्र अनुभूति हो रही थी। पार्थ चौक में आगे बढ़ गया। टूसी ने सारा आँगन 'अलपना' से पूर दिया था। उसकी अँगुलियों की मोहनी गति से क्या ही सुन्दर शोभा छा गई थी। इसी आँगन में आज उसके देवता का आविर्भाव होगा, उसके इष्ट देव आवेंगे। नहीं—पार्थ यह क्या कह रहा है ? समय बहुत थोड़ा है ! पार्थ स्थिर हो गया।

'माँ पूजा का समय यदि हो गया हो तो····।'

'समय हो गया बेटा, पूजा करा दो।'—माँ ने कहा।

'कपड़े लाओ टूसी—नहाऊँगा'—पार्थ टूसी के पास जाकर खड़ा हो गया, दूसरी ओर मुँह था।

उसे अपने को सँभालना ही पड़ा, नहीं तो टूसी की सारी तैयारियाँ व्यर्थ हो जातीं। स्नान के बाद पार्थ रेशमी वस्त्र पहन कर पूजा कराने बैठ गया। टूसी पञ्चपात्र आदि सजाने लगी, एक सौ आठ घृत-दीपकों की ज्योति मन्द मन्द हवा से काँप रही थी, अगरु-धूम की गन्ध से सारा वातावरण मदिरायित था। मन्त्रोच्चारण कैसे करता पार्थ! उसकी जीभ रुकी-सी जा रही थी, सूख गई थी। नहीं।—पार्थ तो आजीवन संयमी ठहरा—। किन्तु, किन्तु ध्यान में मन भी स्थिर नहीं हो रहा था! 'माँ'—कुछ देर स्थिर कर दो, मन स्थिर कर दो, टूसी की उमा-महेश्वर-पूजा पार्थ आज पूरी करा दे।'—प्रार्थना की पार्थ ने चुपचाप।

पूजा का प्रत्येक अनुष्ठान पार्थ ने ठीक करा दिया। प्रत्येक मन्त्र का उच्चारण किया। उसका स्वर थोड़ा भी नहीं काँपा—तो पार्थ ने अपने को सँभाल लिया था—पार्थ तो चिर-संयतेन्द्रिय था न। माँ की, शिक्षा भी तो मिली थी उसे!

'टूसी आ गई, प्रणाम किया, पूजा समाप्त हो गई—। हाथ जोड़-कर, बैठी हुई, भक्ति की प्रतिमा जैसी टूसी उठ आई थी। प्रणाम करने के बाद पार्थ के हाथ से टूसी ने अञ्जलि में आशीर्वाद लिया। टूसी हँसी आने के कारण हँस रही थी—हँसेगी ही तो।

'क्या वर लेगी री—उसे क्या वर चाहिए माँ।'—पार्थ भी हँसने लगा था इसी बीच।

'अनवच्छिन्न पति-स्नेह' माँ ने बाहर ही से कहा।

'स्वामी कहाँ है उसका, माँ' तभी तो यह वर दिया जा सकता है।

'स्वामी तो उसके पास ही है बेटा; इसी महीने में तुम लोगों की शादी करा दूँगी।'

'तो फिर क्या है—लगा दूँ आज ही पूजा का सिंदूर तेरी माँग में, क्या कहती है टूसी ? लगा दूँ ?'

'लगा दो न, लगा दो' टूसी ने निःशब्द हँस दिया।

पार्थ ने पूजा के पुष्प-पत्र में से सिन्दूर लेकर टूसी की माँग भर दी। पार्थ की माँ की इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी, किसी प्रकार भी नहीं, पार्थ हँसा। टूसी ने पार्थ को प्रणाम किया। पार्थ ने कहा, बोलो—बोलो 'यदिदं हृदयं मम, तदस्तु हृदयं तव' टूसी ने मृदु स्वर से दुहरा दिया। पार्थ आसन छोड़कर उठ आया और बोला, 'तो फिर माँ, आज अपनी पालिता कन्या का संप्रदान कर दो मुझे।'

माँ ने हँसकर टूसी का हाथ पार्थ के हाथ में दे दिया। दोनों ने माँ को प्रणाम किया। पार्थ ने माँ की इच्छा पूर्ण कर दी, इसके बाद जो होना था हुआ।—माँ की इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी।

'अब चाय तो दे टूसी ? तू नहीं खायगी क्या ? आओ तीनों एक साथ खायँ! माँ, आज हम लोग तुम्हारे ही साथ खायेंगे; आओ माँ तुम !'

माँ बेटे की ऐसी जिद के साथ पूर्ण परिचित थीं, बोलीं, 'टूसी, प्रसाद खा ले बेटी, वह जब ऐसी जिद पकड़े है तो।'

'मेरी भी जिद है माँ—खाने के बाद ये बाहर नहीं जा सकते-घर में ही रहना पड़ेगा।'

'क्यों तुम्हारी नौकरी करनी पड़ेगी क्या ?' पार्थ ने टूसी की ओर मुँह बनाकर कहा।

'देख लो माँ—मुँह बना रहे हैं—अरे–रे माँ, मारते हैं मुझे।'

पार्थ ने चुपके से एक हलकी सी धवक लगा दी थी, टूसी की पीठ में। वह मजाक उड़ाता हुआ बोला 'आहा—राजा की लाड़ली ठहरो, मूर्च्छा आ गई क्या एँ— ?'

'दिन भर व्रत रखा है उसने—बच्ची ही तो है। क्यों तङ्ग करता है उसे तू। माँ ने धमकाया।'

'जा टूसी जा, खाना परोस दे इसे। भूख के मारे तंग कर रहा है ऐसे।'

'बस केवल एक ही चाँटा तो मारा है माँ—बस केवल आज के ही दिन—अब कभी नहीं मारूँगा।'

टूसी खाना लाते-लाते बोली 'क्यों नहीं मारोगे?' स्वर अत्यन्त मृदु था। बस पार्थ ही सुन पाया।

'क्योंकि तुम राज-नन्दिनी हो न, इसीलिये–चाँटा–चपेटा भला अब क्यों सहने लगी तुम।'

'माँ, देख लो, जो चाहे सो गाली दी जा रही है, मैंने क्या बिगाड़ा है इनका?'

'राज-नन्दिनी' कहा है, वह भी गाली हो गई? अक्ल देखो जरा इसकी।'

पार्थ खाने बैठ गया। 'माँ आओ, टूसी खाने आ, नहीं तो फिर राजनन्दिनी कहूँगा, बैठ—आ।' माँ को बीच में बिठाकर वे दोनों खाने बैठ गये जैसे कि बचपन में किया करते थे। पार्थ ने टूसी की पत्तल का अध-खाया सन्देश झट से उठाकर कहा, 'बड़ा खुद ले लिया है, खूब पेटू है।'—कहकर अपनी पत्तल का सन्देश थोड़ा सा खाकर टूसी की पत्तल में फेंक दिया। टूसी बोली, 'खाओ न, सब खा जाओ, देखूँ कितना खा लेते हो—और दूँ सन्देश। खा सकोगे और?'

'दे दे एक और। झट ले आ।'

'तू बहुत तङ्ग करता है उसे बेटा। खाते-खाते कैसे जायगी वह सन्देश लेने? खा तो सकता नहीं तू!'

'तुम क्यों बोलती हो माँ, जाय, बैठे-बैठे सरक-सरककर जाय।

टूसी ने पार्थ को सन्देश ला दिया—'नहीं खाया तो मजा दिखाऊँगी।'

पार्थ चुप हो गया। कुछ नहीं कह सका।

'कुछ भी नहीं खाया बेटी।'—माँ बोलीं।

'उपवास करके अधिक नहीं खाया जाता माँ।' पार्थ ने जवाब दिया। बात ठीक ही थी, माँ चुप रह गईं। टूसी बर्तन इकट्ठे कर रही थी। पार्थ हाथ धोकर आया और बोला, 'टूसी किसी गरीब की लड़की नहीं जान पड़ती माँ—है न माँ?'

'नहीं बेटा—निश्चय ही किसी बड़े आदमी की लड़की है वह दुर्भाग्य से यहाँ आ पड़ी।

'किसके दुर्भाग्य से माँ—तुम क्यों ऐसी बातें कहती हो माँ—टूसी ने नल के नीचे बर्तन धोते-धोते—विरोधपूर्ण स्वर में कहा 'मैं गरीब की लड़की हूँ—गरीब की बहू भी बनूँगी।'

'और तुझे कोई राजा यदि अभी अपनी लड़की बताकर ले जाय तो—नहीं जायगी क्या?'

पार्थ ने टूसी की ओर देखा। टूसी धुले हुए बर्तन इकट्ठे करके उन्हें लाते-लाते बोली, 'आज मेरी पूजा का दिन है, ऐसी बातें क्यों बकते हो, आज मैं झगड़ा नहीं करूँगी, किन्तु कल।'—टूसी ने माँ की पीठ की ओट में से पार्थ को अपने छोटे से हाथों से घूँसा तानकर दिखाया।

बासन रख आई टूसी—माँ और पार्थ को उसने हरड़ खाने को दी। देखा कि पूर्ण चन्द्रमा आकाश-समुद्र को पार कर रहा था—अकेला, निस्सङ्ग। उसके प्रकाश में आँगन की अल्पनाएँ दिव्य छटा बिखरा रही थीं। पार्थ उसी ओर ताकता रह गया। अब अधिक समय न था—किन्तु यह निदारुण समाचार वह माँ को कैसे बताता? माँ बरामदे के ज्योत्स्ना-मंडित स्थान पर सोई

हुई थी। सारा दिन का थका शरीर था। दूसी उनके पैरों को हाथों से सुहला रही थी। पार्थ और देरी नहीं लगा सका।

'ओ दासी—राजकुमारी—तुम दासी का काम क्यों करती हो, राजकुमारी हो राजा के यहाँ जाओ।'

'जा...ओ—देखो माँ—क्या सब बकते हैं।'

'आः—क्यों उसके साथ झगड़ा करता है पार्थ? थोड़ी भी शर्म नहीं है तुझे!'

'माँ यह सचमुच ही राजकन्या है—'सर' गिरीश गोस्वामी की लड़की है यह। अभी उसके पिता उसे लेने आवेंगे—तुम तैयार हो जाओ माँ—तुम्हारी लाड़ली...।' पार्थ का गला रुँध गया। वह और कठोर नहीं हो सकता था—नहीं हो सकता था।

'क्या कहा बेटा—क्या? उसके बाप अभी उसे लेने आवेंगे अभी आज ही?' माँ उठकर बैठ गईं। दूसी पर जैसे बिजली गिर पड़ी हो। पार्थ क्या कहता है। वे समझ नहीं पा रहीं थीं।

'हाँ—लो—ये आ गये'—क्रन्दनातुर कण्ठ के साथ पार्थ ने दरवाजा खोल दिया। आफिस में से होकर श्री गिरीश चौक में आ खड़े हुए थे। ऐसे मुहल्ले में उनका यह सर्वप्रथम आगमन था। चौक की अल्पनाओं को अपने चमकते जूतों से रौंदते हुए, उन्होंने पुकारा 'कौन है? कहाँ है? मेरी बेटी—देव श्री।'

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। घर में जैसे मौत छा गई थी। श्री गिरीश ने दुबारा पुकारा। दूसी ने धीरे से आकर अपने पिता को प्रणाम किया। साथ का बेयरा, बस्ती में प्रकाश नहीं था; इसलिए एक गैस लालटेन ले आया था। उसी के प्रकाश में, सर गिरीश ने अपनी चौदह वर्ष से खोई हुई लड़की को देखा और बोले, 'चलो बेटी—अपने घर लौट चलो—।'

टूसी ने दृढ़ स्वर से कहा, 'आप क्या अच्छी तरह जानते हैं कि मैं आप ही की लड़की हूँ।'

'हाँ—मैं क्या बिना प्रमाण दिए आया हूँ, चलो बेटी—।'

'मैं नहीं जाऊँगी—पिताजी यदि जाना ही होगा तो मैं अच्छी तरह सोच-विचारकर जाऊँगी। आज नहीं, आज मेरा व्रत है।'

'नहीं जायगी! क्या कहती है बिटिया!' श्रीगिरीश ने और भी कुछ कोमल कण्ठ से कहा—'व्रत वगैरः छोड़ो, 'सर' गिरीश की लड़की क्या इस बस्ती के नरक-कुण्ड में पड़ी रहेगी, यह नहीं हो सकता—मैं यह नहीं होने दे सकता, भूल जाओ ये सब, आओ, चली आओ!'

'यह मेरा घर है पिताजी—ये मेरे स्वामी हैं, मैं उनकी वाग्दत्ता पत्नी हूँ। यही बस्ती मेरा स्वर्ग है—मैं नहीं जाऊँगी।'

'वाग्दत्ता पत्नी? किसने तुम्हारा वाग्दान किया है?' श्री गिरीश सिंह के समान गर्ज उठे—'चल जल्दी, नहीं तो जबर्दस्ती पकड़कर ले जाऊँगा।'

टूसी जल्दी से माँ के पैरों पर आ गिरी। 'माँ, तुम मुझे रख लो, मुझे मत छोड़ो माँ; मुझे तुमने चौदह वर्ष जो रखा है ओ मेरी माँ।'

श्री० गिरीश का कण्ठ क्रोध से रुँध गया। उनकी लड़की, उनकी एकमात्र सन्तान, उनके सर्वस्व की अधिकारिणी इस बस्ती को छोड़कर नहीं जाना चाहती। ओफ! अजीब कुशिक्षा दी है इन लोगों ने!—ये सब शैतान हैं—पाजी! सर गिरीश हुङ्कारकर बोले, 'ओ, छोकरे, यही सब सिखाया है इसे इतनी देर में क्यों? सीधी तरह नहीं होगा, है न? देव श्री जल्दी आ!'

'मैं नहीं जाऊँगी—अपने स्वामी और सास को छोड़कर मैं

कहीं नहीं जाऊँगी। जाना ही है तो ठीक ढंग से जाऊँगी तुम्हारे यहाँ।'

'तेरी सास?—तेरा स्वामी—!'

'हाँ, मेरा स्वामी, मेरे भूत, भविष्यत् करोड़ों जन्म के स्वामी ....पिताजी, यदि आप सचमुच मेरे पिता हैं, तो क्यों इतनी निर्दयता कर रहे हैं? उनके साथ मुझे कल लिवा जाइएगा—आपकी लड़की होना तो भाग्य की बात है, पिताजी!'

'नहीं—नहीं—नहीं—आज ही जाना पड़ेगा तुझे! भूल जाना पड़ेगा चौदह वर्ष की ये सारी बातें। इस हतभाग्य 'स्काउन्ड्रेल' के हाथ में मैं अपनी एकमात्र लड़की सौंप दूँगा! इतनी हिम्मत! उठ आ—देवश्री, उठ, नहीं तो....'

'पार्थ ने जाकर टूसी के माथे पर हाथ रखा और कण्ठ को यथासम्भव संयत कर कहा, 'उठ आओ, टूसी उठ जाओ।'

'नहीं—तुम मुझे रख नहीं सकते? तुम मेरे स्वामी....।'

'हम लोगों की सामाजिक शादी तो नहीं हुई और तुम नाबालिग हो, तुम्हारे पिता की सम्मति के बिना मैं तुम्हें नहीं रख सकता—जाओ लक्ष्मी....रानी....!'

'माँ'—टूसी ने पुकारा! रोने से उसकी आवाज नहीं निकल रही थी।

'जाओ बेटी, आशीर्वाद देती हूँ....!'

'आशीर्वाद दो माँ कि मैं तुम्हारे चरणों में ही लौट आऊँ। मैं आऊँगी—आऊँगी, मैं—अन्य कोई रास्ता नहीं मिला तो मौत का रास्ता पकड़कर तुम्हारे ही चरणों में आऊँगी। आशीर्वाद दो माँ तुम—!' पार्थ के पैरों में गिरकर टूसी बोली, आवाज रुकी जा रही थी, किसी तरह बोली, 'तुम स्वामी हो मेरे, मैं लौट आऊँगी—कितने ही दिन क्यों न लग जायँ—मैं लौटूँगी—लौट-

कर आऊँगी ही—तुम प्रतीक्षा करना! प्रतीक्षा करना तुम!'

'करूँगा; तेरे लिये करोड़ों जन्म प्रतीक्षा करता रहूँगा टूसी! अपने आजीवन ब्रह्मचर्य का आशीर्वाद तुझे देता हूँ।'

'पार्थ रुक गया। सर गिरीश को यह सब असहनीय हो रहा था। वे उकताकर बोले, 'अब चुप करो जी, कल जाकर रुपया ले आना, पूरे पचीस हजार ही दे दूँगा। आओ देवश्री—।' टूसी को एक प्रकार से वे खींचकर ही ले गये।

पार्थ आकर आफिस में बैठ गया। रात बढ़ रही थी; निःस्तब्ध सीमाहीन सी रात ने इन दोनों जगते हुए प्राणियों पर पहरा देना शुरू कर दिया था। भीतर के कमरे में माँ और बाहर के कमरे में बेटा! सारा संसार जैसे मौत की गोद में सो रहा था।

१७

सवेरे ही सब लोग टूसी के न्यौते को पूरा करने आनेवाले थे। लड़के खाते, लड़कियाँ पकातीं—और उनकी 'वैजयन्ती'-साहित्य-सभा का भी यही दिन था। सबसे पहले प्रवीर और प्रसून आ पहुँचे। प्रायः सात बजे थे, आफिस का द्वार खुला था। वे कलहास्य करते हुए कमरे में घुसना ही चाहते थे—यह क्या! पार्थ की ऐसी मुखाकृति तो उन्होंने कभी नहीं देखी थी। क्या हुआ पार्थ को? माँ के साथ झगड़ा! नहीं! असम्भव! फिर टूसी के साथ ही हो गया क्या? वह क्या सारी रात सोया नहीं?

इन्द्राणी और अरुणा भी आ गईं—प्रवीर ने ओठों पर अँगुली रखकर 'चुप' रहने का संकेत किया। समीर, श्यामल, शैवाल, भी आये। प्रवीर ने सभी को चुप रहने का संकेत कर दिया था। चित्रा और अशोका भी एक बड़ी कार में चढ़कर आ गईं थीं—प्रवीर ने उन्हें भी संकेत कर दिया। प्रवीर सोच रहा

था—कोई भी पार्थ से नहीं बोल सकता माँ और टूसी को छोड़ कर। कहाँ है उसकी टूसी! इतनी देर तक तो वह चाय पी चुकता था। कल उपवास करने से क्या टूसी सोई पड़ी है? किन्तु माँ? शायद माँ भी सो रही हों?

रसोई के लिये कल की तरकारियाँ भी टोकरी में ज्यों-की-त्यों रखी थीं। रसोइयाँ धुला हुआ था; कोई खास बात दिखाई नहीं पड़ी।

किन्तु पार्थ क्या सारी रात सोया नहीं? कपड़े भी नहीं बदले? वे ही पूजा के वस्त्र वह अब भी पहिने हुए हैं। क्रमशः उनका विस्मय बढ़ने लगा।

पार्थ सारे घर में इधर-से-उधर घूम रहा था। इतने आदमियों को उसने एक बार भी नहीं देखा। यह आश्चर्य तो नहीं क्या? क्या हो गया उसे? प्रवीर अस्थिर हो उठा। सिप्रा अभी आई नहीं थी, मालती को आने में देरी थी। कौन बुलाये फिर पार्थ को! प्रवीर ने आकर चित्रा और अशोका से कहा—आप लोग बुलाइये उसे, बुलाइये न! न मालूम, क्या हो गया है इसे!

चित्रा चुपचाप नीचा मुँह किए बैठी थी। पार्थ को देखने ही तो आई थी वह! पार्थ उसे निकाल देता बाहर, यह वह जानती थी। किन्तु पार्थ के ऐसे घोर दुःख को वह अपनी दोनों आँखों से देखे बिना नहीं रह सकती! ईर्ष्यावश मनुष्य क्या और कितना नीचा उतर सकता था? चित्रा का दिल खुशी से नाच उठा। उसका काम बन गया। अब पार्थ ठीक दिखाई दे रहा था, मानों एक दिन की विधवा हो! लाल रेशम का वस्त्र गौरवर्ण पर अच्छा लग रहा था—चित्रा ने खुशी से उसकी ओर ताका।

अशोका आगे बढ़ी। दो एक बार उसने दुविधा की; बाद में पुकारा—पार्थ बाबू—क्या बात है पार्थ बाबू?

उत्तर नहीं दिया पार्थ ने। निःशब्द वह चक्राकार गति से चहल-कदमी करता रहा। उसका मुँह जमीन की ओर था। किसी की ओर भी नहीं देख रहा था पार्थ। प्रवीर थक गया। माँ को वह बुलावेगा ही अब, किन्तु जायगा किस रास्ते। बीच में पार्थ जो घूम रहा था। उसको डर लगता है, शायद पार्थ की किसी प्रकार की सत्य-निष्ठा में आघात लगे तो!—यदि उसने मौन धारण कर रखा हो आज—कौन जाने! उधर का भी दरवाजा बन्द है। बाहर से ही बुलाये क्या प्रवीर!

बुलाना नहीं पड़ा—माँ स्वयं ही आ गईं। इस कमरे में माँ बहुत कम आती थीं! क्यों आतीं? क्या इतनी संगीन बात हुई थी कभी? माँ ने एक क्षण भर पार्थ की ओर देखा—माँ को भी नहीं देखा पार्थ ने आज!

'बेटा, पार्थ!' माँ ने पुकारा।

'माँ' कहकर पार्थ ने मुख ऊपर किया। चहलकदमी फिर भी नहीं रुकी।

'हाथ-मुँह धो बेटा! चाय नहीं पियेगा?'

'चाय—? और चाय नहीं पिऊँ तो क्या है, आज से—छोड़ दी—माँ, आज्ञा दो!' दूसी को चाय पीना अच्छा भी नहीं लगता था।

'सारी रात सोये नहीं बेटा, क्यों? ये लोग सब बाहर ही खड़े हैं! बुला उन्हें।'

पार्थ ने लौटकर सबकी ओर ताका अशोका ने आकर माँ से कहा, 'क्या हुआ माँ, ऐसे क्यों हो गये, ये?'

'मैं कहे देता हूँ माँ इन लोगों से—तुम नहीं कह सकोगी।' पार्थ ने कहा।

माँ की दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। सभी ने उन माता-पुत्र की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से ताका।

'मैं खड़ी हूँ—यदि तू अधीर हो जाय!'

'नहीं—माँ—नहीं—तुम्हारा पुत्र क्या इतना दुर्बल है! नहीं! तुमने तो ईस्पात और वज्र से भी अधिक कड़ा बनाया है अपने लड़के को! आज मैं अन्तिम परीक्षा दूँगा—देखो तुम, मुझसे सब कुछ होगा!'

'बेटा।' माँ अधीर होकर लड़के के पास आ गईं।

'भय क्या है माँ, इसी की आवश्यकता थी मेरे जीवन में। सुनिए, आप सब लोग, हमारी टूसी को कल उसके पिता 'सर' गिरीश गोस्वामी आकर जबरन ले गये। वह अब हम लोगों की कोई नहीं। किन्तु उसका व्रत इसी घर में पूरा हुआ था—ब्राह्मण-भोजन के लिये आप सब निमन्त्रित थे।' पार्थ का स्वर काँप रहा था।

'बस बेटा—वे सब समझ गये—आओ।' माँ पार्थ को घर के अन्दर खींच ले गईं। साथ-साथ मित्रों का दल भी चौक में आकर खड़ा हो गया। अनिर्वचनीय आतंक से उनके मन में आच्छन्नता आ गई थी। यह कैसा कल्पनातीत विप्लव हो गया पार्थ के जीवन में।

चित्रा के सबके पीछे से देख रही थी। आश्चर्य, पार्थ के समान वीर हृदय! प्रवीर ने आगे आकर कहा, 'पार्थ तू इतना दुर्बल है क्या।'

'नहीं दुर्बल क्यों? माँ तुम रोओ नहीं। वह सुखी रहेगी। उसका कल्याण होगा माँ—दुःख क्यों करें, आओ सब लोग, उसके व्रतोद्यापन के ब्रह्म-भोज का प्रबन्ध आप सब लोग करिए भाई—आओ अशोका, चित्रा देवी, आइए आप लोग—आओ

इन्द्राणी, अरुणा-मालती कहाँ है रे मालती नहीं आवेगी क्या ?'

'अभी आ रही है !' प्रवीर ने कहा। मालती भी आ पहुँची।

वे सब रसोई करने लगे। माँ बरामदे में सोई रहीं 'मालती माँ के पास बैठी रही—उनके बालों में हाथ डाले रही।

'सिप्रा देवी नहीं आई—प्रवीर—भूल तो नहीं गये तुम निमन्त्रण देना ?'

'नहीं मैंने स्वयं जाकर निमन्त्रण दिया था।' प्रवीर ने पार्थ के प्रश्न का उत्तर दिया।—रसोई समाप्त हो गई, वे लोग खाने बैठ गये। सभी चुप थे, मुँह नीचा किये बैठे थे, किसी के मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था। उनके हृदय की वाणी नीरव होगई थी। जो दो एक बात होतीं वे पार्थ द्वारा ही की जा रही थीं। ग्यारह बजे भोज समाप्त हो गया। पार्थ बाहर चला गया। प्रवीर प्रसून उसके पीछे चल दिए। पास के मकान में पार्थ ने नम्बर खोज करके फोन किया तो उधर से कठिन गम्भीर स्वर में जवाब आया। पार्थ समझ गया यह स्वयं श्री गिरीश गोस्वामी थे। पार्थ ने दृढ़ स्वर से कहा—'सर गोस्वामी की कन्या ने कल पार्थ के घर जो व्रत किया था उसका ब्राह्मण-भोजन हो गया; कृपया उससे यह कह दें—अन्यथा शायद वह अन्न-जल भी ग्रहण न करें।' पार्थ ने फोन रख दिया। प्रवीर चुपचाप खड़ा देख रहा था अटल गम्भीर पार्थ आज उद्वेलित हो उठा था अन्दर से—महासमुद्र के समान-फिर भी बाहर से इतना शान्त ! आश्चर्य था पार्थ की प्रकृति पर उसके अद्‌भुत धैर्य पर।

पार्थ को लेकर वे सब गोलाकार हो बैठ गये। सबके मन पर एक अनिर्वचनीय छाया-सी पड़ी थी। मानों उनकी आज वाक् शक्ति ही चली गई थी। जीवन—पथ में मनुष्य का कितना अप्रत्याशित परिवर्तन हो सकता था यह सोचा नहीं जा सकता !

इतने में ही कल के उसी तकमा वाले अर्दली ने आकर सलाम किया और खड़ा हो गया। दूसी की चिट्ठी है क्या ? पार्थ ने तेजी से जाकर लिफाफा लिया और उसे खोल डाला। लिफाफे के अन्दर एक चेक था—कोई पत्र नहीं। क्रोध और क्षोभ से पार्थ का सर्वाङ्ग काँप उठा। क्षण भर में उसकी धमनियों का रक्त उमड़ आया।

एक टुकड़ा लेकर पार्थ ने लिखा—'धन्यवाद, सर गोस्वामी महाशय, किन्तु अब यदि आपके घर का कुत्ता भी आया मेरे यहाँ तो ससम्मान नहीं लौट सकेगा—सावधान।'

—पार्थ मुखोपाध्याय !

चेक के साथ यह पत्र अर्दली के हाथ में देकर बोला—जाओ, अपने मालिक को देना।

पार्थ की इतनी उत्तेजित मूर्ति उन लोगों ने पहले कभी नहीं देखी थी। चित्रा चौंक पड़ी। फटा कुर्ता भी बदलने के लिये जिसके पास पैसा नहीं जुड़ता,—उसने पचीस हजार का चेक तत्क्षण लौटा दिया। इस अजीब व्यक्ति को पाने की दुरुह आशा चित्रा कैसे करती थी। किस लोभ से उसको लुभाया जा सकता था। चित्रा ने भूल कर दी। किन्तु पार्थ ने तो चित्रा से कोई बात नहीं की। वह क्या यह सब जानता था कि चित्रा ने ही उसका सर्वनाश कर दिया ! नहीं समझ पाया शायद पार्थ—निश्चय ! साहबी शिक्षा पद्धति में पली लड़की यह नहीं समझ सकी कि चित्रा आज उसके यहाँ अतिथि थी, पार्थ उसका असम्मान नहीं कर सकता था।

१८

सबेरा बहुत देर का हो गया था। वर्षा से भींगे हुए मल्लिका पुष्पों की गन्ध फूटी पड़ रही थी। 'केया' के फूल भी शायद खिल

उठे थे, आज—गन्ध तो मिल रही थी। बिना धूप का शीतल, छाँह-भरा वर्षा से बिखरा हुआ प्रभात था यह! सिप्रा अब भी सो रही थी, उठने की इच्छा ही नहीं होती थी। और भी थोड़ा सो लेने से शायद यह आलस्य कुछ कम हो जाता।

यह कैसा विपर्यय हो गया था उसके सुकुमार जीवन में! सिप्रा के तेईस वर्षों का हास्य मुखर आनन्दमय जीवन—सभी जैसे बिखर गया था चूर-चूर होकर। उसकी मनोभूमि के मध्याह्न आकाश में पार्थ क्यों आया—और यदि आया तो परियों की कहानियों के राजकुमार के समान क्यों नहीं आया—किसलिये उसने अपनी सोने की छड़ी को छुलाकर सिप्रा की निद्रित प्राण-प्रतिमा को जगा डाला, यदि राजकन्या की उसे आवश्यकता ही नहीं थी तो! सिप्रा जागृत हो उठी, उसका प्राण-पद्म धीरे-धीरे खिल रहा था—गन्ध शायद इस बार वातावरण में फैल जायगी। नहीं, सिप्रा इस गन्ध को बाह्याकाश में नहीं आने दे सकती थी। वह अनन्त काल तक हृदय-कलिका में ही रोती रहे। वह सोच रही थी, उसने पन्द्रह दिनों से पार्थ को देखा नहीं था। और शायद इस जीवन में वह उसे देख भी नहीं सकती, न देखे, सिप्रा शायद उसके लिये दुःख भी न माने—दुःख माने बिना रह नहीं सकती—वह हृदय तभी तक बिना रोये रह सकता है, जबतक कि मनो-वधू की नींद नहीं खुल जाती। किन्तु अब सिप्रा के लिये कोई उपाय नहीं था—पार्थ क्या क्षमा नहीं कर सका सिप्रा को। प्रवीर को भी उसने एक विपद में फँसा दिया। प्रवीर के लिये सिप्रा की अनुकम्पा उद्वेलित हो उठी। इस सुमहान् मनुष्य ने पार्थ के संसर्ग में आकर सोने के मुकुट में कोहेनूर पा लिया था। मानों प्रभात के आलोक में उसकी नीलाकाश-कान्ति जुड़ गई थी। उसकी महती मानवता को यदि सिप्रा अपने ऐसे काम में

नहीं लगाती ! सम्भवतः पार्थ ने प्रवीर को त्याग दिया !—यही तो स्वाभाविक है पार्थ के लिये।

सिप्रा की माँ ने कमरे में प्रवेश कर लड़की को तकिये में मुँह छिपाये पड़े देखकर कहा—उठो बेटी, बहुत देर हो गई।

सिप्रा कुछ ठहर कर उठी। उठने का कोई लक्षण न था।

'देख बेटी ! यदि तू अजय के साथ विवाह नहीं करना चाहती तो मत कर ! जिसके साथ करना चाहे बोल, हम उसी को सौंपूँगी तुझे; तू हमारी एक मात्र.....।'

सिप्रा चपल बालिका के समान खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसने मुख उठाकर माँ का शान्त स्नेह-पूर्ण मुख देखा; उसके हृदय की सारी वेदना मिट गई। बोली, 'मैं क्या शादी करने के लिये ही रो रही थी—तुम भी खूब हो माँ।'

'नहीं तो किसलिये रोती थी बेटी तुझे किस वस्तु का अभाव है, बोल तो !'

सचमुच—सिप्रा को कोई अभाव नहीं था किन्तु उसके हृदय में जैसे आज किसी का अभाव रह-रहकर जाग उठता था। बोली—माँ, तुमने मुझे अपने समान क्यों नहीं बनाया ! ठीक एक ग्राम-कन्या के समान !

बिछौना छोड़कर उठते-उठते सिप्रा ने कहा—क्यों मेम साहब बना दिया मुझे ? सिप्रा के कथन से अभियोग अभिव्यञ्जित हो रहा था, उसका अन्तर्निहित रहस्य कहाँ था, यह जानने के लिये माँ ने उसकी ओर ताका। नहीं—कुछ भी तो नहीं समझा जा रहा है ! आधुनिक शिक्षा द्वारा शिक्षित सिप्रा को ग्राम-कन्या बनने की साध कैसे हुई। सिप्रा पर किसी दिन उस समाज की छाया भी नहीं पड़ी। माँ के मुख की प्रत्येक रेखा में कन्या की भविष्य-चिन्ता फूट उठी। सिप्रा माँ की अन्तर्वेदना समझ गई। क्षण

भर में उसने अपने को दूसरा रूप दे दिया। बोली, 'आजकल कविता बनाती हूँ माँ, मध्यम श्रेणी और ग्राम-समाज में गये बिना अच्छी कविता नहीं लिखी जा सकती।'

'गाँव-कसबे में जाना चाहती है तो जा न अपनी ननसाल—वे तो बहुत कहते हैं; जायगी कृष्ण नगर? किन्तु तू मुझे बहका रही है सिप्रा?'

माँ को बहकाना इतना सरल नहीं। माँ का रक्त सिप्रा की प्रत्येक नस में था। कहाँ छिपायेगी सिप्रा अपनी—अन्तर्वेदना को। माँ से कुछ छिपाया नहीं जा सकता। फिर भी सिप्रा ने कोमल स्वर में हँसकर कहा, 'कृष्णनगर तो शहर है माँ—क्या होगा वहाँ जाकर! मैं कल्याणपुर जाना चाहती हूँ।'

'वहाँ कष्ट जो होगा बेटी! वहाँ नहीं रह सकेगी तू! किन्तु सिप्रा तू कुछ छिपा रही है मुझसे।'

सिप्रा के मनोगगन पर उस समय पार्थ-रचित 'अलकनन्दा' की कई पंक्तियाँ उदित हो रही थीं।

'ओ कल्याणी सन्ध्या मेरी,
अब, रवि के रूपहले पर्दे में तुम रूप न अपना छिपाओ।
बस उसी रूप से मेरी आँखों के पलकों में, बस जाओ।
प्रिय जो तारक-पुष्प तुम्हारे, उनसे गूँथी है यह माला।
छाया पथ में सेज बिछी, और वहीं रखी है ज्योत्स्ना ज्वाला।
भेद-भरी, आलोक-अँधेरे की, जो प्रिय है रूप-कथा।
उस अनजानी असीमता में रख दी है तेरी पवित्रता।'

'सिप्रा!' माँ ने दुबारा पुकारा।

'क्या सोच रही है तू सिप्रा; क्या हुआ है तुझे।'

'कुछ नहीं हुआ माँ—चलो—चलो तुम, मैं अभी स्नान करके आ रही हूँ।'

माँ चुप रह गईं। और अधिक कहना उन्हें संगत नहीं जान पड़ा। नीचे जाकर पति से बोलीं, 'सिप्रा अजय के साथ शादी नहीं करेगी। उससे तुम कुछ मत कहना।'

'कहूँगा क्यों! उसको जिससे पसन्द हो उससे करे न, किन्तु अब शादी अवश्य कर लें! पर सवेरे से ही, यह बात क्यों! कहाँ है सिप्रा, उठ पड़ी या नहीं?'

'अभी आती है, नहाने गई है ’

बाहर बाग में से एक गुच्छा फूल लाकर माली ने टेबिल पर रख दिया। फूलों की गन्ध सुन्दर और सुमिष्ट थी। फूल थे देशी बन-मल्लिका के—सफेद बर्फ जैसे। मिसेज् चटर्जी के मुख पर चिंता के बादल छा रहे थे। मि० चटर्जी पत्नी का अभिप्राय ठीक समझ नहीं पा रहे हैं। वे चुप रहे। चिर-दुर्बोध्य नारी का आन्तरिक रहस्य जानने का प्रयत्न वे कभी नहीं करते। सिप्रा नीचे उतर आई। खूब हँसमुख, चेहरे पर कोई शिकन भी न थी, आँखें अवश्य ही कुछ तेजहीन थीं, क्योंकि वे रात भर जगी थीं।

'कल क्या अच्छी नींद नहीं आई बेटी? खूब बादल छाये थे?' मि० चटर्जी ने लड़की से पूछा।

'नहीं पिताजी, बहुत देरतक किताब पढ़ती रही थी।'

'कौन किताब थी—रात भर पढ़ती रही—अँग्रेजी उपन्यास होगा शायद?'

'नहीं, मातृभाषा की एक पुस्तक 'अलक-नन्दा' खूब अच्छी लिखी गई है पिताजी।'

'अच्छा तो देना एक बार पढ़कर देखूँ—मातृभाषा में क्या आजकल''''' बात काटकर सिप्रा ने कहा, 'खूब अच्छा साहित्य निकल रहा है, पिताजी, आप अवश्य पसन्द करेंगे। बड़ी रुचि-पूर्ण बातें रहती हैं।'

मि० चटर्जी ने एक निःश्वास छोड़ा; सचमुच क्यों वे मातृ-भाषा भी नहीं पढ़ते !

'अच्छा पिताजी ! मैं आपको अच्छी-अच्छी किताबें दूँगी—आप पढ़िएगा। तो ?'

'किसकी लिखी पुस्तकें हैं—रविन्द्रनाथ ठाकुर की ?'

'नहीं पिताजी, रवीन्द्र युग बदल रहा है—फिर भी उनका प्रभाव, यानी'—सिप्रा ने सोचा पिता को किस भाषा में समझावें वह, अंग्रेजी में घर के लोगों से क्यों बोले ?

'मैं समझ गया; शमझ गया—इन्फ्लुएस'—क्यों ?' पिता ने हँसकर कहा—बोले, जा तू—

'आप तो मातृभाषा खूब जानते हैं पिताजी—अच्छी तरह जानते हैं !'

'मेरी कविताएँ खो गईं बेटी नहीं तो मैं भी बचपन में अच्छी कविता कर लेता था। अच्छा सुन—

'कुसुमित निकुञ्ज के मन्दिर में आओ तुम,
चन्दन सुगन्ध के सुरथ पर—
आओ तुम वर्षा के श्यामायित मेघ चूम,
सर्पिल-सी बिजली के पथ पर....'

सिप्रा सन्तुष्ट हो गई। उसके पिता कविता कण्ठस्थ रखते हैं ! आज भी; आश्चर्य !

'यह किसकी लिखी कविता है पिताजी—आधुनिक जान पड़ती है; रवीन्द्र-युग की रचना तो....'

'मेरी ही रचना है बेटी, बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में कविता लिखा करता था मैं।'

मिसेज् चटर्जी लजाकर लाल हो गईं। सिप्रा माँ की हालत समझ गई। उसके पिता यौवन की बातें यादकर आत्म-विस्मृत

हो जाते थे। किसने कहाँ, क्या सोचा, यह कभी ताककर नहीं देखते थे। सचमुच पिताकी प्रकृति भी तो कवियों के समान थी—इतने दिनों तक सिप्रा यह बात क्यों नहीं समझ सकी। दौड़कर सिप्रा कागज कलम उठा लाई और पिताजी की कविता लिख ली। मिसेज् चटर्जी ने कहा—और थोड़ा सा कुछ खा ले न सिप्रा; कविता को लेकर ही मस्त हो उठी।

'हो उठी हूँ माँ, मस्त, मुझे आज बहुत आनन्द हो रहा है।' कहकर सिप्रा अपने कमरे में भाग गई। यह कविता निश्चय ही पिताजी ने माँ को उद्देश्य कर लिखी थी—सिप्रा ने माँ के चेहरे से यह बात भाँप ली थी। तो माँ ने भी कवि से प्यार किया था? तभी सिप्रा का रक्त आज पार्थ की पद-ध्वनि का अनुसरण कर रहा है। प्रवीर भी तो कवि था; अच्छा कवि था, प्रवीर, पार्थ के पीछे सिप्रा प्रवीर की भी पदध्वनि सुन रही थी। किन्तु प्रवीर मानो पार्थ की छाया था। सिप्रा के अन्तस्तल के पर्दे पर प्रेम के आलोक में प्रवीर सजीव सा दीख पड़ता, वास्तव में किन्तु वह थी छाया। जो हो, फिर भी प्रवीर महान् और सुंदर था। उसके प्रशान्त महासागर के समान प्रेमवारिधि में थोड़ा भी ज्वार नहीं तूफान नहीं—वह जैसे अतल-स्पर्शी हो—काले, नीलाकाश तले, गहन-गभीर गाम्भीर्य! और पार्थ, सिप्रा सोचती गई—वह तो आकाश है; उसे हाथ बढ़ाकर छुआ नहीं जा सकता, केवल देखा जा सकता है—पकड़ने को हाथ बढ़ाते ही उसका रूप रूपातीत हो जाता है।'

किन्तु सिप्रा यह क्या सोच रही थी। कवि बन गई क्या सिप्रा। उसके हृदय—मणि-मन्दिर में किसका था यह प्रकाश-मय दीपक, किस धूप की गन्ध थी यह? पार्थ के लिये प्रेम की वेदना क्या उसके मन को असीम आकाश के ही बाहर ले जा

रही थी।—ले जा रही थी किसी अपरिचित राज्य में जहाँ मनुष्य का मन आकाश में ही घूमता रहता है। जहाँ पार्थ या प्रवीर की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, रूप-रस-शब्द-गन्ध-हीन शाश्वत रूपायन के अन्त हीन महाराज्य में! यह कहाँ आ गई सिप्रा! यहाँ व्यथा भी आनन्द बन गई, मृत्यु अमृत में लय थी, मन के समस्त माधुर्य को रोमाञ्चित कर यहाँ केवल सृष्टि-वेदना की आनन्द लहरें लहराती रहीं।

नहीं, अन्त में सिप्रा कवि ही बन गई! वह अब और अधिक नहीं सोच सकी। वह कवि नहीं बनना चाहती—कविता पढ़ना चाहती थी; पार्थ से यही बात कहती आ रही थी वह।

किन्तु सिप्रा की भावना रुक नहीं सकी। उसके हृदय के कोने-कोने में, एक स्वर से किसी की नूपुर—ध्वनि अविराम गति से बजती चली जा रही थी। इसी नृत्य ध्वनि के साथ-साथ उसके हृदय की वाणी—मूर्ति सङ्गीत गाना चाहती थी। वह किसी प्रकार भी अब चुप नहीं रह सकती। सिप्रा कहाँ भागती? कहाँ आश्रय लेती जाकर!

सिप्रा नीचे दौड़कर आ गई! उस समय भी उसके माँ बाप वहीं बैठे थे। सिप्रा को देखकर विस्मित होते जा रहे थे, 'क्या हो गया इसे?' मि० चटर्जी न पत्नी से पूछा।

'कुछ नहीं पिता जी—मेरी मित्रता एक कवि से हो गई है, पार्थ है उनका नाम; उनके मित्र प्रवीर भी मेरे मित्र हैं। वही जो उस दिन यहाँ आये थे—देखा नहीं था पिताजी?'

अकस्मात सिप्रा में यह कैसा परिवर्तन! इसे समझा नहीं जा सकता। मि० चटर्जी हँसकर बोले—मुझे खुशी हुआ है बेटी—कवियों का आन्तरिक लोक सदैव साधना के आलोक से उज्ज्वल रहता है। अपने उस मित्र को बुलाओ न एक दिन!

सिप्रा के चेहरे से सारी चमक उड़ गई। पिताजी यह बात कहेंगे ही, यह उसने पहले ही क्यों नहीं सोचा। क्या जवाब देती सिप्रा! मि० और मिसेज् चटर्जी ने कन्या के इस अद्भुत परिवर्तन को ताड़ लिया। वे चिन्तित हो उठे। सिप्रा के जीवन में कोई दुर्घटना हो गई क्या ? माँ तत्क्षण उसके सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं—'क्या बात है सिप्रा ? हम लोगों से कह दे न हम लोग चिन्ता के मारे मरे जा रहे हैं।'

'नहीं माँ, कुछ नहीं हुआ मुझे—पार्थ बाबू आयेंगे या नहीं यही....'

'आयेंगे क्यों नहीं ? तुम निमन्त्रण दे आना।'

'मैं उनके प्रति अपराधी हूँ पिताजी—मैंने अन्याय किया है।' कहकर सिप्रा दुबारा जल्दी से चली गई अपने कमरे में।

मिस्टर और मिसेज् चटर्जी कन्या की इस अद्भुत प्रकृति के विषय में सोचते-सोचते दुःखी हो गये—उनकी एकमात्र कन्या—सिप्रा ! क्या हो गया उसे।

१९

उस दिन मिसेज चटर्जी ने सन्ध्या समय सभी को बुलाया। कई दिन से सिप्रा के मित्रगण आ, आकर लौट गये क्योंकि सिप्रा मुलाकात नहीं करती थी।

उस दिन मिसेज् चटर्जी ने फोन करके उन सभी को बुलाया। सोचा सिप्रा को उन लोगों के साथ खुश होना ही है, नहीं तो सिप्रा को इस तरह न जाने क्या हो जाएगा।'

खाने के बाद सिप्रा सो गई—माँ ने उसका सिर सुहला कर उसे सुला दिया।—उसके नेत्रों में काफी नींद भरी थी।

सन्ध्या समय, मित्र गण एक-एक करके आते जा रहे थे।

अतनु, अतीश, अजय, अरुण, बेला, रेवा, सिकता, नन्दिता सभी आ पहुँचे थे। प्रकांड लॉन में उन लोगों की सभा जुटी। मिसेज् चटर्जी ने सबकी अभ्यर्थना की, और हँसकर बैठाया सबको। सबसे कुशल प्रश्न किया। मि. चटर्जी का हाथ पकड़े हुए सिप्रा भी आई और उन्हीं की बगल की कुर्सी पर बैठ गई। सब कुर्सियाँ भरी थीं।

खूब साफ—सुथरे कपड़े पहिने दो बॉय अनेक खाद्य, पेय आदि ले आए। गपशप शुरू हो गई।—

'मिस् चटर्जी मानो इन कई दिनों में ही कुछ अधिक सुन्दर हो उठी हैं।' मन्त्र पाठ किया अतनु ने।

'रूप का स्वभाव ही है नित्य-नूतन होना।' अजय ने स्तुति की

'कविता बनाने लगे अतनु बाबू?' सिप्रा ने टिप्पणी की—'आपकी बात में कवि की गन्ध पा रही हूँ।'

सिकता खूब मुखरा लड़की थी, बोली, 'कहीं से किसी कवि की कविता उधार ले आये होंगे, और क्या।'

'कवि लोग; भी सब उधार ही लेते हैं मिस सिकता।'

उसका टाइटिल–अजय भूल गया था। 'लेते हैं किन्तु पूर्ण महापुरुषों से' सिप्रा ने उत्तर दिया—चन्द्रमा से ज्योत्स्ना का रूप, कोकिला से मधुरिम स्वर, नदी से बीथियों का नृत्य, पुष्प से मोहक गंध—किन्तु....'

'किंतु, क्या मिस चटर्जी? अजय ने उसके मुख की ओर ताक कर पूछा। सिप्रा का मुँह उज्वल सद्य प्रस्फुटित कमल के समान सुशोभित था! कहा, 'किन्तु' का अनुमान कर लीजिये—उसे सुन कर आप चिढ़ जायेंगे—दूसरे की कविता नहीं बोलिए तो क्या हो! उसमें कोई बहादुरी नहीं है।'

'क्यों तू झगड़ा करती है सिप्रा—तू बहुत झगड़ती है अजय के साथ—बड़ी 'शरीर' होगई है।' माँ ने कहा।

'नहीं माँ झगड़ा नहीं करती—सुनो ये लोग किसकी कविता पढ़ कर आए हैं।'

'तव रूप आमि नव-नव-रूपे देखि
जीवनेर वेला—भूमे
उषार आकाशे सन्ध्या घूमाय—
दूटि रूप जेन एकई
एक सागरेर तरङ्ग मोरे नव-नव रूपे चूमे,
नीति नवरूपा अयि।
स्वप्ने-सत्ये-जीवनो जड़ानों अरूप अमृतमयी-'

कथन में काफी कठोरता थी, अजय और अतनु म्लान हो गये। सिकता परिस्थिति समझ कर बोली—अच्छी बात है इन लोगों ने भी तो महाकवियों से ही उधार लिया है। सब लोग तो कविता नहीं लिख सकते भाई।'

'उधार नहीं लिया, चुका नहीं सकते इसलिये, चोरी की है। चुकाने के लिये जिस श्रद्धा की आवश्यकता है, वह इन लोगों में नहीं है; ये लोग निर्धन हैं—' सिप्रा की इस अनावश्यक उत्तेजना से सब लोग चकित हो गए क्षुब्ध हो उठे। माँ ने सिप्रा को धमकी दी 'चुप रह तू सिप्रा, तुझमें बड़ा बचपन है अभी!'

'नहीं माँ, अजय बाबू, अतनु बाबू चोरी तो की है किन्तु अच्छी चीज की। फूल चुराने का दण्ड भोगते समय भी चोर के मन में फूल की गंध तो बची रहती है। आप लोगों को धन्यवाद देती हूँ मैं।'—सिप्रा के चपल हास्य ने सारी मण्डली को फिर चमका दिया। बादल धीरे-धीरे हट गये।

'ओ सिकता, अतनु बाबू को जरा सहारा देना भाई, वे 'अह-

श्य' हुए जाते हैं !'—सिप्रा अतनु के कुर्सी में घुस जाने की मुद्रा देख कर बोली। सभी हँस पड़े। अब बादल नहीं घिर रहे, उनकी सभा के आकाश में चाँदनी खिल गई थी। अजय कुछ कहना ही चाहता था, किन्तु चुप रह गया। क्या मालूम, यदि ...अजय सिप्रा से डरता था अब।

'अजय बाबू की जय-यात्रा के भाग में फूल बिछ गये हैं; कल हम लोग कदम-नहर के पुल की ओर घूमने गये थे; कदम-नहर अजय बाबू की जय पताका है।'—सिप्रा ने कहा।

अजयने कदम-नहर के पुल का कन्ट्रेक्ट लिया था; समाप्त भी हो गया था। प्रसन्न हो उठा यह सुनकर कि सिप्रा उसका काम भी देख आयी। पूछा, 'पुल कैसा लगा ?'

'कहा तो, जय पताका! इस बार मन में भी पुल भी बना डालिये।' सभी मुसकरा दिये। इस संकेत को सभी समझ गये। अजय किन्तु चुप रहा। सिकताने कहा— दूसरी ओर की जमीन तो दिखा दे उसे; पुल बाँधेगे कैसे ?

'वाहरी—ये सिप्रा, सिकता, वेला, नीला, इला, मेखला आदि ढूह उसी पार तो जगमगा रहे हैं और इन्हें दिखाई नहीं पड़ता ? क्या कहती हो तुम ?' सिप्रा काव्यमयी हो उठी। उसकी प्रत्येक बात में जैसे छन्द और अनुभूति-गम्य रस था! अजय इतनी देर बाद बोला—उस पार की जमीन मुझे दिखाई तो पड़ रही है मिस चटर्जी, किन्तु साँपों से भरी है।

'वाह खूब कहा!' सिप्रा ने कहा, 'किन्तु साँपका मन्त्र भी तो है!—न जानते हो तो सिखाये देती हूँ—

'सं यं रं फट् फूः—

ढाका-सापे-कामड़े छे—आः।

जा विष झरे जा—विष-हरिर आज्ञे।

टाका कूड़ि गाड़ी जूड़ि, जाकगे रे जाकगे।'
दुहराइये न इस मन्त्र को! याद कर लीजिये।'

हाः हाः करके सब हँस पड़े—अजय को छोड़ कर। अजय का हृदय सिप्रा के इस निष्ठुर विद्रूप पर अवश हो उठा। सच-मुच क्या वह केवल रुपया के लिये चाहता था सिप्रा को। सिप्रा को अजय क्या जरा भी नहीं चाहता था? नहीं। किन्तु सिप्रा तो स्पष्ट कह रही थी कि वह पार्थ को प्यार करती है। अजय कठोर हो गया। विद्रूप के साथ बोला—आपका मन्त्र जिस सागर को मन्थन कर निकला है, वहाँ विष ही विष है मिस चटर्जी।

बिजली के समान हँसकर सभा को मुखरित करती हुई सिप्रा बोली—असुरों के भाग्य में तो विष ही विष है अजय बाबू, अमृत तो देवताओं के लिये है।

'मालूम होता है पार्थ बाबू ही वे देवता हैं' अजय ने स्पष्ट आघात किया।

'नहीं, वे तो नीलकण्ठ हैं—मेरा विष पी लेंगे, समस्त ज्वाला मिट जायगी।' सिप्रा के नेत्रों में आँसुओं के अक्षर चमकने लगे।

क्या इस रहस्यमय बातचीत के अन्तर्निहित गूढ़ रहस्य को कोई नहीं समझ सका? माँ ने सिप्रा की ओर ताका, नहीं, सिप्रा को इस प्रकार मित्र-मण्डली में बैठना अच्छा नहीं लगता। कुछ हो गया इसे तो!

'अमृत किसके लिये है तो फिर मिस चटर्जी?' अजय ने व्यङ्ग भरा प्रश्न किया।

'यदि कोई देवता आयें तो उन्हीं के लिये संचित रहेगा!' कहकर सिप्रा ने चुपचाप माथा नीचा कर लिया। 'किन्तु वह देवता आप नहीं हैं—!' दुबारा कहा सिप्रा ने नीचे की ओर मुँह किए।

इतने आदमियों के सामने ही सिप्रा ने स्पष्ट बता दिया कि वह अजय को नहीं चाहती ! उसके माँ-बाप ने उनकी ओर चकित होकर देखा। आकस्मिक आवेग की इस ठण्डी हवा से सबकी बातों का उत्साह भी ठण्डा पड़ गया, हँसी-खुशी का स्रोत ही जमा था। मुखरा लड़की सिकता ही सर्व-प्रथम बोली—देवता जब आयेंगे तो आयेंगे ही ! धूप-दीप तो जला हुआ है न ! आओ; उत्सव मनायें। सिकता सिप्रा से हृदय की व्यथा जैसे अनुभव कर रही थी। बोली—एक गाना गा दे न—सिप्रा ?

किन्तु सिकता खुद भी खूब अच्छा गाती थी। सिप्रा की सम्मति की प्रतीक्षा न कर वह स्वयं ही गाने लगी। इस प्रकार के निश्चल वातावरण में उसका श्वास रूँधा जा रहा था तथा गाने के स्वर से उन लोगों का मनोमालिन्य कुछ कटा जा रहा था। इसी समय एक व्यक्ति द्वार के पास आ खड़ा हुआ। चुपचाप वह दूर ही से गाना सुन रहा था। जान पड़ता है कि कोई रास्ते पर खड़ा है कौन है वह ! सबने द्वार की ओर ताका।

बेयरा एक कार्ड ले आया। सिप्रा ने एक बार द्वार की ओर ताका। वह व्यक्ति भी आगे बढ़ रहा था। सिकता ने गाना बन्द कर दिया। दौड़कर सिप्रा उसके पैरों की ओर बढ़ी; बोली—मैं जानती थी, आप निश्चय ही आयेंगे; आप क्षमा किए बगैर नहीं रह सकते, यह मैं जानती थी""।

वह व्यक्ति अत्यन्त सुन्दर था। साफ धोती, और सूत की सादा चादर, पैरों में चप्पल ! सिप्रा सम्मान सहित उन्हें आगे ले आई। अतिथिगण सोच रहे थे, यह कौन है जिसे सिप्रा प्रणाम करने लगी ! उस व्यक्ति को अन्दर लाकर सिप्रा ने कहा—पिताजी, ये श्रीयुक्त पार्थ मुखोपाध्याय हैं—ये मेरे पिता हैं और ये माताजी। पार्थ ने उन्हें प्रणाम किया और अपरिचितों को

नमस्ते, वह बैठना ही चाहता था कि सिप्रा ने अपने पिता के पास ही अपनी कुर्सी पर उसे बैठा दिया और स्वयं खड़ी रही। सभा कुछ चंचल सी हो उठी।

सिप्रा ने पूछा, 'क्या आप अस्वस्थ हैं ? बहुत जैसे....'

'नहीं अच्छा हूँ—आप आईं नहीं उस दिन, इसीलिये...।'

'मैं क्या मुँह लेकर जाती मुखर्जी महाशय—जा नहीं सकी।' सिप्रा का कण्ठ-स्वर काँप रहा था।

'नहीं सिप्रा देवी; भूल न करने से मनुष्य को मनुष्य कैसे समझा जायगा। देवता समझ कर भूल होगी ! मैं आपके हृदय से यही संकोच हटाने आया हूँ।' पार्थ ने अत्यन्त कोमल स्वर से कहा। सिप्रा ने फिर एक बार प्रणाम की। 'चाय ले आऊँ—बैठिए !' सिप्रा ने अनुरोध किया।

'चाय पीना छोड़ दिया है मैंने देवी,—थोड़ा जल दे दीजिए।'

'चाय पीना छोड़ दिया आपने—क्यों !' पार्थ चुप रहा। सिप्रा उसके मुख की ओर देखकर कुछ नहीं समझ सकी।

मि० चटर्जी ने कहा,'आप एक विख्यात कवि हैं–मैंने सुना है !'

पार्थ ने विनीत होकर कहा, 'मैं तो आपके लड़के के समान हूँ, 'तुम' कहकर बुलाने से खुशी होगी मुझे !'

'वाह ! खूब अच्छा लड़का है।'—मि० चटर्जी ने पत्नी की ओर देखकर कहा।

'आप भी मुझे 'तुम' या 'तू' कहियेगा माँ, गुरुजनों के मुख से मुझे 'आप' सुनने का अभ्यास नहीं।'

'तुमको देखने से ही लड़के के समान मानने की इच्छा होती है।'

सिप्रा ने पार्थ को जल और मिठाई देकर कहा—'माँ अच्छी हैं ? टूसी, मालती ?'

'माँ बीमार हैं, मालती ठीक हैं।'

'टूसी ! टूसी कैसी है ?' सिप्रा प्रश्नमय दृष्टि से पार्थ की ओर देखती रही।

'टूसी ! अच्छी—नहीं, जानता नहीं सिप्रा देवी।'

'जानते नहीं। टूसी कैसी है यह आप नहीं जानते हैं ? वह तो छाया है आपकी !'

'थी—अब नहीं है, उसके पिता उसे लिवा ले गये।'

पार्थ की दोनों आँखों में विषाद भरा था। कुछ ठहरकर पार्थ बोला, 'अच्छा अब मैं चलूँगा सिप्रा देवी, मुझे कुछ जरूरी काम है, माँ को लेकर मैं बाहर जा रहा हूँ—बहुत काम हैं—प्रवीर पर 'वैजयन्ती' का भार छोड़ चला हूँ। आपलोग भी देखती रहें।'

पार्थ ने सिप्रा के माता-पिता को प्रणाम किया, सबको नमस्ते की, उसके बाद धीरे-धीरे चला गया। सिप्रा जैसे सुधबुध बिसरा बैठी थी। पार्थ के द्वार से बाहर जाने पर सिप्रा को याद आया कि वह पार्थ को प्रणाम करना भूल गई। दौड़कर वह द्वार की ओर गई, किन्तु तब तक पार्थ एक चलती 'बस' में बैठ चुका था।

लौटती बार सिप्रा अपने कमरे में चली गई। इस तरह चले जाने से उसके समागत अतिथियों का असम्मान हुआ, यह एक बार भी नहीं सोच सकी वह !

२०

चित्रा का मन अन्तिम कोर तक विषाक्त हो उठा। पार्थ की जितनी हानि कर सकती थी, वह भी कर दी—उसकी छाती में से उसने हृत्पिण्ड ही निकाल लिया था। चित्रा खुशी से हँस पड़ी। किन्तु पार्थ ने उस दिन उससे कुछ भी नहीं कहा ? तो क्या चित्रा

के ऊपर उसे कुछ भी सन्देह नहीं था। पार्थ ने उसे खूब सम्मान दिखाया; बड़ा आश्चर्य हुआ उसके व्यवहार पर !

चित्रा का हृदय, आशा—आनन्द—उत्कंठा से स्पन्दित हो रहा था। यदि पार्थ उस पर सन्देह नहीं करता तो वह नूतन वेष धारण कर पार्थ से फिर मिल सकती थी।

किन्तु पार्थ को लेकर क्या करेगी चित्रा ? वह एक गरीब कवि है, घर में आराम खाने तक को नहीं,—उसे चित्रा नहीं चाहती। उसे कुछ पाठ पढ़ा कर छोड़ दिया। चित्रा की इससे अधिक कोई इच्छा नहीं थी स्नेह। फूत् ......वह क्या कोई 'चीज' है। 'भूत' 'भगवान्' 'स्नेह' 'प्रेम' ये सब ऐसी चीजें हैं जिनमें चित्रा विश्वास नहीं करतीं। ये तो बेवकूफों को ठगने के तरीके हैं।

उसे प्रसून ने सुबह ही फोन किया था, बड़ा वैसा लड़का है ! वही है ठीक आजकल का कवि। एक दिन की बात है स्वयं ही फोन करके निमन्त्रण ले लिया। हुँ, और वह अपने को कहता है पार्थ का मित्र। कहाँ तो हिमालय की एक शिखर—काँचन-जंघा और कहाँ एक छोटा सा ढूह। कामना का कीड़ा गिल-गिल करता है। किन्तु उसे बहलाने में भी मजा आता है। बड़े आदमी का लड़का है। घर-द्वार, मोटर-गाड़ी आदि हैं। आने दो उसे आज। चित्रा खयाली पुलाव पकाती रही।

चित्रा ने अपनी पैनी बुद्धि को और भी जरा तेज किया। विचारों का ताँता बँधा था। मन में हजारों मनसूबे बाँधे जा रहे थे। उसका बड़ा भाई अजय कहीं बाहर जा रहा था। बहिन को बाहर के कमरे में प्रतीक्षा करते देख पास आकर बोला, 'कौन आ रहा है री चित्रा—?'

'प्रसून नामक एक व्यक्ति—किन्तु तुम क्या सिप्रा के यहाँ...'

'नहीं, सिप्रा ने मुझे जबाव दे दिया—अब तो मैं क्लब जा

रहा हूँ ।' अजय चला गया। जवाब दे दिया सिप्रा ने इसी बीच भैया को। तो क्या चित्रा ने भूल की? नहीं; अच्छा ही हुआ श्री गिरीश का जमाइ बना देगी वह अपने भाई को। कल ही जायगी वह उनके यहाँ। टूसी वहाँ से आने के बाद कैसी है, कुछ पता नहीं चला। डर के मारे चित्रा जा भी नहीं पाती। यदि श्री गिरीश लड़की का रोना देख कर पार्थ को ही''''नहीं ऐसा नहीं हो सकता कि श्रीगिरीश पार्थ के समान एक दरिद्र को जमाई बनायेंगे। अच्छा हुआ जो चित्रा उस दिन कह कर आई थी कि पार्थ पहले से ही पागलपन करता फिरता था, कभी कुछ तो कभी कुछ। श्रीगिरीश को तो सच्चे बड़े आदमी थे। वे पार्थ को कभी जमाई नहीं बना सकते। दूसरे दिन सुबह ही पता लगाने का निश्चय किया चित्रा ने।

प्रसून ने आकर नमस्कार की और खड़ा हो गया। अद्धी के कुर्ते के नीचे उसके शरीर पर 'सैण्डोकट' बनियान दीख पड़ती थी। देखने में प्रसून अच्छा लगता था। चित्रा ने उसकी ओर देखा और प्रति नमस्कार कर बोली—आइये—क्या समाचार हैं प्रसून बाबू?

'समाचार कुछ विशेष नहीं, आपसे मिलने चला आया हूँ।?'

'ओः। बहुत खुशी हुई—बैठिए!' कहकर चित्रा ने बेयरा से चाय और नाश्ता लाने के लिये कह दिया। दोनों में खाते-खाते बातचीत चलने लगी। प्रसून ने चित्रा के गुलाबी चेहरे की ओर देखकर कहा, 'यू लुक लाइक ऐन एञ्जेल—रियली—'

'नौटी बॉय। औरतों की खुशामद करना मर्दों का स्वभाव हो गया है, इसे क्या कहूँ—वाग्विलास!'

'वाग्विलास! मैं सच कह रहा हूँ मिस् राय, आपका चेहरा 'मेजेस्टिक' है''''

'धन्यवाद' बात काटकर चित्रा ने कहा—'किंतु कितनों से कह चुके हैं यही बात ?'

'किसी से नहीं—यह और किसी से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि—'

'क्योंकि मिथ्या वचनों का सर्वत्र आदर नहीं होता—क्यों ?'

प्रसून चोट खाकर चुप रह गया। चित्रा ने समझकर कहा, 'आपने दूसी को देखा है प्रसून बाबू ?'

'नहीं, वे तो पार्थदा को छोड़कर और किसी के सामने नहीं निकलतीं।'

'चेष्टा करने से ही देखा जाता है महाशय—चोरी से देखना तो पुरुषों का एक प्रधान गुण है।'

'उनके सम्बन्ध में मुझसे आप कुछ न कहिए चित्रा देवी, वे पार्थदा की 'वाग्दत्ता' हैं।'

'ओः तब तो फिर मजाक भी नहीं किया जा सकता ! क्यों ?'

'आप चाहें जो कहें, किंतु पार्थदा और उनको छोड़कर।'

'उसको देखने से तो आप मूर्च्छित हो जायँगे। इतनी सुंदर है दूसी।'

'चित्रा देवी मैं जा रहा हूँ।'—प्रसून सचमुच उठकर खड़ा हो गया। चित्रा बड़ी जल्दी से उसका हाथ पकड़कर बोली, 'अरे ! क्या करते हैं—मजाक नहीं समझते आप ? आप खूब हैं !'

प्रसून बैठकर बोला, 'मुझमें अनेक दोष हैं किन्तु इस ओर मैं निर्मम और कठोर हूँ।'

'अच्छी बात है, मैं उन लोगों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहूँगी। चलिए, आपकी नई गाड़ी में लेक के किनारे घूम आयें। गाड़ी मुझे ही दिखाने लाये हैं न !'

'गाड़ी के अतिरिक्त और भी बहुत सी चीजें दिखाने लायक रहती हैं मिस् राय !'

प्रसून गुस्से से लाल हो उठा। चित्रा समझ गई कि यह युवक बड़ा दुर्बल है, किंतु नीच नहीं है, सभ्य और सुसंस्कृत है। स्त्रियों के विषय में दुर्बलता है, किंतु अन्याय नहीं सह सकता, अनधिकार चर्चा नहीं करता; मनुष्यता नहीं छोड़ता। प्रसून तो रूप का पुजारी ठहरा। वह रूप को आँखों और कानों के सिवाय अन्य किसी तरह का उपभोग करने का साहस नहीं रखता, यही समझ गई चित्रा। उसके साथ निरापद टहलने जाया जा सकता था। गाड़ी से उठकर वे लेक की ओर चल दिए; प्रसून 'स्टियरिंग' लेकर धीरे-धीरे गाड़ी चला रहा था। चित्रा उसके पास ही बैठी थी; उनकी कुछ विशेष बातचीत भी नहीं हो रही थीं। चित्रा चुपचाप रहना अच्छा नहीं होता, यह सोचकर बोली—'मानसी' कौन है प्रसून बाबू ?'

'क्या ? 'मानसी' कविता तो लिखी थी न आपने ?'

'क्या जानूँ, पास ही होगी कहीं।'

चित्रा ने हाथ के रूमाल से छप करके प्रसून को मारा। प्रसून ने मुस्कराकर कहा, 'ओफ् ! लगता है जी। बड़ा सख्त है आपका रूमाल…।'

'अच्छा तो कोमल छड़ी लाऊँ, नहीं तो आराम नहीं मिलेगा।'

मोड़ पर घूमते ही अशोका मिल गई। वह स्वयं ड्राइव करती हुई अकेली घूमने आई थी। प्रसून को चित्रा के साथ देखकर एक साथ हँस पड़ी। वे भी हँसकर घास के पास गाड़ी रोककर उतर पड़े; तीनों आदमी घास पर बैठ गये !

'मैंगनोलिया…आइस…क्रीम…' चिल्ला-चिल्लाकर एक लड़का घूम रहा था।

'ए, तीन यहाँ लाना' प्रसून ने आर्डर दिया !

खाते-खाते अशोका मुँह बन्द किए हँस उठी और बोली, 'ये केक्स काहे से तैयार होते हैं प्रसून बाबू, 'स्नेह' आदि दिया जाता है क्या ?'

चित्रा विस्मित—सी होकर बोली, 'इसके माने ? 'स्नेह' क्या जम जाता है ?'

'हाँ, वे लोग जमा देते हैं और यहाँ ये प्रेमिकों के ओठों की गरमी से गल-गलकर हृदय के बन्धन शिथिल कर देते हैं—ओफ् कितना ठण्डी है !'

'मालूम होता है कि तेरा शचीन के साथ बन्धन ढीला होता जा रहा है ।'

'नहीं, वह किसी तरह भी 'आइसक्रीम' नहीं खाता। बड़ा चालाक है धूर्त्त ! आप भी नहीं खाइयेगा प्रसून बाबू, नहीं तो चित्रा को खो बैठेंगे ।' अशोका के मुख पर व्यङ्ग-रस झलक रहा था। लज्जित प्रसून, बिना कुछ कहे काम न चलेगा, सोचकर बोला, 'चित्रा देवी को बाँधूँगा ऐसी साँकल नहीं है मेरे पास—अतएव—'

'आइसक्रीम खाइये' बात काटकर कहा अशोका ने !

चित्रा समझ गई अशोका का इशारा किस सूक्ष्मतम छिद्र-पथ पर जा रहा है। चित्रा ये बातें नहीं चलने दे सकती ! बोल उठी, 'प्रसून बाबू का मन तो तूने ही बाँध रखा है अशोका, मुझे क्यों बदनाम करती है ? मेरे साथ तो उनका केवल दो दिन का परिचय है ।'

'दो दिन ! यथेष्ट हैं ? 'लव एट् फर्स्ट साइट्' नहीं जानती क्या तू ? किंतु यही होता है ! इसके बाद 'लाख-लाख युग' दो मिनिट-से जान पड़ेंगे—समझी ?'—अशोका हँसने लगी !

प्रसून उन दोनों की इस प्रकार की बातों से घबड़ा गया, 'आप लोग क्या कहती हैं ? 'आइसक्रीम' और खायें तो बताइये''''ले आऊँ !'

'जाइये ! ले आइये ।', चित्रा ने कहा । प्रसून उठ गया । चित्रा ने अशोका से कहा, 'तुम बहुत निर्लज्ज हो अशोका—जाः ।'

'तुमसे भी अधिक क्या ? ओः बाप रे, तब तो अपनी उन्नति ही देखती हूँ !'

'मैं उसको थोड़ा खेल खिला रही हूँ भाई, तुम बाधा क्यों डाल रही हो !'

'नहीं मैं उसकी सहायता कर रही हूँ; तू जो नहीं कह पायेगी वही मैं कहे देती हूँ ।' समझी । अशोका फिर एक बार हँसी ।

'चल मरी । सब बातों में हँसती क्यों है ।' फिजूल चित्रा और कहती किन्तु प्रसून आइस्क्रीम लेकर लौट आया । अशोका ने खाते-खाते गली हुई आइसक्रीम के छींटे प्रसून के कुर्ते पर फेंके ।

'एँ दाग हो जायेंगे मिस् लाहिड़ी ।' प्रसून ने सविनय कहा ।

'आपको तो सौभाग्य मानना चाहिये ? यह कुर्ता उठा कर रख दीजियेगा—धोइयेगा नहीं ।'

प्रसून मुस्कराया । चित्रा ने कहा, 'तुम्हारी स्मृति-स्वरूप ।'

'हाँ' कह कर अशोका ने आइस्क्रीम की डन्डी प्रसून की ओर फेंक दी । उसके बाद बोली, 'शचीन—चन्दन प्रतीक्षा करते होंगे जा रही हूँ, नहीं तो—।'

उसने गाड़ी पर चढ़कर 'स्टार्ट' कर दिया । 'एक दिन आइयेगा प्रसून बाबू—!' कहकर गाड़ी चला दी ।

चित्रा ने लम्बी साँस ली जैसे जान बची तो लाखों पाये । प्रसून की ओर रोष पूर्ण दृष्टि से देख कर कहा, 'दो नावों में पाँव देना ठीक नहीं है, प्रसून बाबू—समझे ।'

'एक नाव ही नहीं है, आप दो नावों की बात करती हैं।' मन्द हास्य से प्रसून ने कहा।

'ना—नहीं; जैसे मैं कुछ समझती नहीं—शरीर पर तो जूठे रस के छींटे छोड़ दिये, और—।' चित्रा के स्वर में मान भरा था। प्रसून विगलित हो उठा। चित्रा सचमुच प्रसून को प्यार करने लगी थी क्या ? इस प्रकार का मान कैसे कर रही थी। बोला,

'उनके छींटे डालने पर मैं क्या करता, कहिए ? मुझे अच्छा न लगने पर भी...।?

'क्यों ? कह नहीं सकते थे आप ? समझ गई महाशय, समझ गई, आपकी अशोका देवी...।'

प्रसून व्याकुलता के साथ बोल उठा, 'आप गलत समझी हैं चित्रा देवी....'

'हाँ, गलत ही तो !' चित्रा ने एक लम्बी साँस लेकर बड़े दुःख पूर्ण स्वर से कहा, 'चलिये, घर तो पहुँचा दीजिये ?'

'और जरा बैठिये न ? अभी तो साँझ नहीं हुई।'

आप अशोका का ध्यान करिए और मैं—नहीं मुझे घर पहुँचा दीजिये।' प्रसून चुपचाप आकर गाड़ी में आ बैठा, प्रसून चित्रा को लौटा ले चला। उसने कुछ भी नहीं कहा। चित्रा मन ही मन हँसी से व्याकुल हुई जा रही थी; बोल उठी, 'बहुत दिनों से सिनेमा नहीं देखा चलेंगे आप ?'

प्रसून खुश होकर बोला, क्षण भर में, 'चलिए न चलिए, अभी समय है।' जल्दी से आकर दोनों सिनेमा-हाल में घुसे। फर्स्ट क्लास की निकटस्थ सीट पर बैठ कर चित्रा बोली, 'आजकल देशी चित्र अच्छे बन नहीं रहे हैं न प्रसून बाबू ?'

'देखने से जान जायेंगी अच्छे हैं या बुरे; मुझे तो अच्छे नहीं लगते। वही कहानी-पुरानी टेकनिक—नाच गाने और रोना-धोना—'

'आप एक अच्छी सी कहानी लिखिए न मुझे नायिका बनाकर—' मुसकराकर चित्रा ने आवेदन किया।

'अच्छा, मैं चेष्टा करूँगा, किन्तु आपको मुझे और भी अधिक जानना चाहिए।'

'अभी जाना नहीं? तो फिर और सभी नहीं जान सकते।' चित्रा ने गम्भीर हँसी हँसकर कहा!

प्रसून उससे कुछ कहना चाहता था कि रुक गया। एक व्यक्ति चित्रा की ओर आगे बढ़ रहा था।

'हलो मिस् राय, बहुत दिनों बाद आईं—इन्डियन फिल्म देखने, आप?'

'आप भी तो, कैसे हैं मि० बोस? 'एन्ड हाऊ इज़् योर विलवेड्'.....?'

'ओ, यहीं तो हैं वे—बुलाऊँ।'

आगन्तुक सज्जन के इशारा करते ही कान के दोनों ओर खूब फूली हुई जार्जेट की साड़ी पहने एक अत्याधुनिक स्त्री 'वैनिटी बैग' हाथ में लेकर वहीं चली आईं। चित्रा को नमस्कार की और प्रश्न सूचक दृष्टि से चित्रा के पास बैठे हुए प्रसून की ओर ताककर कोमल स्वर से बोलीं, 'भावी—?'

'नहीं, मित्र हैं; कवि प्रसून हैं इनका नाम, अविवाहित, इच्छुक और अनन्यपरायण हैं अभी!'

'अतएव....।' कहकर मिसेज् बोस ने हँसकर प्रसून को नमस्कार किया। प्रसून बचपन से ही इस 'समाज' में आता जाता था। आधुनिक लड़कियों का चाल चलन, बातचीत सब जानता था। उसका मन गम्भीर आवेग-पूर्ण झंकार से सब समय स्पन्दित रहता था, इसलिये ठीक जवाब नहीं दे पाया। हर एक 'सोसाइटी-गर्ल' प्रसून की इस दुर्बलता से लाभ उठाती थीं। वे प्रसून

का मजाक उठाकर हमेशा मजा लेती रही थीं किंतु आज जैसे प्रसून जीवित हो उठा बोला, 'अतएव भविष्य में कुछ नहीं होगा। मित्र मित्र ही रह जायगा, कारण उसका अधिकार सबसे बड़ा होता है।'

'राईट्—सबसे बड़ा—क्या कहते हो तुम?' कहकर मिसेज् बोस ने स्वामी की ओर ताका।

'सर्टेनली! तुम्हारे सिर का दर्द कम हो गया न शीला?'

'नहीं, अभी वैसा ही है—पास में यदि कोई डाक्टरी दूकान हो तो एक 'एस्पिरिन' की गोली....।'

'आप ला दीजिए न प्रसून बाबू! दो एस्पिरीन की गोली ले आइये।'—चित्रा ने कहा। प्रसून उठा। मिसेज् बोस ने कहा, 'नहीं, नहीं वे क्यों कष्ट करेंगे—तुम्हीं जाओ न!'

'आइये न मिस राय—अकेला जाना पड़ेगा। कौन अच्छा फिल्म है—क्या देखियेगा इसमें?' मि० बोस ने बुलाया—स्वर में आग्रह था। चित्रा तत्क्षण 'चलिए' कहकर मि० बोस के साथ चली गई। मिसेज् बोस चित्रा की खाली कुर्सी पर ही बैठ गईं।—'ओह बहुत दर्द हो रहा है सिर में—शाम से—क्यों चली आई यहाँ मरने!'

प्रसून ने अनेक 'अल्ट्रामॉडर्न' लड़कियाँ देखी थीं, लेकिन यह सबसे आगे थीं। सोच रहा था, जब सिर में दर्द हो रहा है तब घर में सोना ही ठीक था या मैदान में घूमना भी ठीक रहता! बोला, 'आप इस बन्द हाल में न ठहर कर खुली हवा में टहलिये जरा।'

'सो तो जानती हूँ मिस्टर—क्या?' मिसेज् बोस ने भौहों से एक प्रकार का सुंदर कटाक्ष करते हुए कहा।

'मुखर्जी।'—जवाब दिया प्रसून ने। वह मिसेज् बोस की

ओर ताकता रह गया। 'मि० मुखर्जी शीला बोस के नेत्रों में आकांक्षा का अत्युष्ण वाष्प था—मिस् राय के समान तो मेरे भाग्य में ऐसा मित्र नहीं जो घुमा लाए। वे गाड़ी लेकर आफिस जाते हैं; लौटने पर गाड़ी खाली होती है। ट्राम में तो लड़कियाँ घूम ही नहीं सकतीं। आज कल !'

'हूँ !' प्रसून शीला का आवेदन सुन रहा था।—'मुझे यदि मित्र समझें तो जब इच्छा हो गाड़ी मँगा लीजिएगा।' लाइट आफ हो गई। पर्दे पर श्रीमती····का सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। शीला ने उसी ओर ताकते हुए कहा, 'निश्चय ही मँगा लूँगी—कल ही आज ही इच्छा कर सकती हूँ किन्तु सिर में—ओ····।'

मिसेज् बोस ने फूल के समान, सुगन्धित सुन्दर सिर को टेढ़ाकर प्रसून का कंधा छू दिया।

बेचारा प्रसून सहम-सा गया। सोच रहा था यदि मि० बोस अभी आजाय तो। यह शीला कैसी दुःसाहसिक औरत है।

'जरा माथा दबा दीजिए मि० मुखर्जी बड़ा दर्द हो रहा है !' मिसेज् बोस के कण्ठ में उर्वशी—जैसा मान, निवेदन और आज्ञा थी। प्रसून बचने का उपाय न ढूँढ़ सका। धीरे से उसने मिसेज् बोस के चिकने माथे पर हाथ रखा। मिसेज् बोस ने सिर प्रसून की ओर बढ़ा दिया। चित्र-फलक के प्रतिबिम्बित प्रकाश में वह अत्यन्त सुन्दरी दीख पड़ती थी। प्रसून देखता ही रह गया। प्रसून ने इतना माडर्न किसी को नहीं देखा था। मिसेज् बोस के रंगे ओठों के बीच से शुभ्र-दन्तावली इस थोड़े से अन्धकार में दीख पड़ती थी। उसका पविरोन्नत वक्ष-स्थल लहरियों के समान प्रसून की तट—भूमि पर मानो रहकर टकरानेवाला हो—उत्ताल, उद्वेल, उदग्र !

शीला बोस ने बड़ी सुन्दर भङ्गिमा से प्रसून के शरीर पर

एक छोटा सा आघात किया। कितना मायावी था वह आघात।

'कल मुझे लेकर आपको डायमण्ड हार्बर जाना पड़ेगा, घूमने चलेंगे न ?—मिसेज् बोस ने आज्ञा दी।'

'जाऊँगा; कब आऊँ ?' प्रसून ने पूछा। मिसेज् बोस जल्दी से स्वस्थ होकर बैठ गईं और बोलीं, 'खेल खूब जम गया; यही लड़की शायद 'ऊर्मि देवी' हैं ? हुँ, देवी कहने में लज्जा नहीं आती इन्हें !' मि० बोस और चित्रा, सावधानता से, अँधेरे में खाली कुर्सियाँ बचाते हुए आ रहे थे, काफी कुर्सियाँ खाली पड़ी थीं।

'कितना दिखा दिया गया ? चित्रा ने आकर पूछा।'

'बस अभी शुरू हुआ है।'—शीला उठी नहीं, उधर की कुर्सियाँ मि. बोस और चित्रा को दिखा दी। मि. बोस शीला के हाथ में औषध की गोलियाँ देकर बोले, 'जल भी चाहिए क्या ?—अच्छा हाफ टाइम होने दो।' मि. बोस और चित्रा पास की दो कुर्सियों पर बैठ गये।

मिसेज् बोस अब प्रसून के साथ अधिक बातें नहीं कर रही थीं। बड़े मनोयोग से फिल्म देखा जा रहा था। प्रसून ने धीरे से शीला की मोम के समान मुलायम बाँह छूकर कहा, 'चुप क्यों हो गईं आप।' 'फिल्म देखिये न' मिसेज् बोस ने कहा। प्रसून इस चिरपरिचित व्यवहार पर मन ही मन हँसा। उधर चित्रा के साथ मि. बोस लगातार बातें किये जा रहे थे। चित्रा मानों मि० बोस ही के साथ परिचित हो, प्रसून के साथ कोई परिचय ही न हुआ हो ? इण्टरवल होगया, 'थोड़ा जल चाहिए; दो गोली खाना है।' प्रसून ने उठ कर शीला को एक ग्लास जल ला दिया। दोनों गोली शीला ने खाई या नहीं; प्रसून कुछ भी नहीं समझ सका।

चित्रा बोली,'प्रसून बाबू वास्तव में 'सर्विसेबुल' हैं। ऐसा परो-

पकारी व्यक्ति दूसरा नहीं मिलेगा—विशेषकर स्त्रियों को कोई आवश्यकता पड़े तो।'

लज्जा से प्रसून का मुँह लाल हो उठा। शीला देवी धीरे-से बोलीं, 'बहुत दुष्ट है·····'प्रसून को छोड़कर और कोई नहीं सुन पाया यह बात; सुनाने के लिये कहा भी न था।

गाड़ी में बैठते समय शीला देवी बोली, 'कल तो आइयेगा ही, चार बजे के बाद।'—वे लोग चले गये, चित्रा प्रसून की कार में पिछली सीट पर जा बैठी। प्रसून के पास नहीं बैठी। प्रसून ने पूछा, 'क्या हुआ।'

'कुछ नहीं, घर पहुँचा दीजिए' कहकर चित्रा ने मुँह निकाल कर रास्ते की ओर ताका। बेचारा प्रसून कुछ सोच न सका। निरुपाय हो उसने गाड़ी स्टार्ट कर दी। चौरङ्गी के ऊपर आते ही चित्रा ने कहा, 'ठहरिए।'—प्रसून रुक गया। दरवाजा खोल कर मैदान में आकर चित्रा ने कहा, 'आप जाइये, मैं टैक्सी करके जाऊँगी। जाइये, रात होरही है अपनी शीला देवी को फोन कर दीजियेगा जाकर, नहीं तो वह सो जायगी—जाइये न महाशय—खड़े क्यों हैं ?' प्रसून अत्यन्त उद्विग्न होकर बोला,'ऐसी क्या बात है चित्रा देवी—क्या कसूर हुआ है मुझसे।'

'कुछ नहीं—कौन कहता है—अपराध मेरा ही है। शीला देवी को प्यास लग रही है—जाइये—जल पिला दीजिये।'

'किन्तु वह अस्वस्थ थी—थोड़ा सा जल ला दिया—तो ..'

'ला दीजिये, दीजिये न—जल दीजिए, फल दीजिये, क्यों नहीं देंगे आप।'

उसके कण्ठ में यह कैसा संकेत था। प्रसून ने झट से गाड़ी से उतरकर चित्रा का हाथ पकड़ा—आइए—उठ आइए—आ—इ ये भी। प्रसून ने उसे खींच लिया।

चित्रा हँस पड़ी इसी बीच, 'हटो, असभ्य !

२१

अशोका के दूब-से श्यामल गण्डस्थल पर आँसू बह रहे थे। उसकी आँखों से वर्षा सी हो रही थी। अशोका अपनी आँखों की बात जैसे भूल ही गई थी। सबेरा हो गया था, आज अशोका को बहुत काम करने थे। उसका शरीर मानों वश में न था। आलस्य में यदि कुछ देर और सो सकती तो अच्छा होता—किन्तु उठना ही पड़े। उसके दादाभाई कमरे में आये। प्रायः रोज सबेरे आकर वे बहिन को देख जाते थे। और दिन अशोका इस समय नहा धो चुकती थी—आज, यह क्या ?

'क्या हो गया री तुझे अशोका !...मेरी छोटी-सी बहिन...' मि. लाड़िली ने बहिन के सिर पर हाथ रखा। अशोका आँखे पोछती हुई उठ खड़ी हुई, 'कुछ नहीं भैया, सोच रही थी। आज मैं घर में एक साहित्य—सभा करूँगी तुम भी उपस्थित रहना।'

'अच्छी बात है, शचीन तो आवेगा न ? क्यों रो रही है ? झगड़ा हो गया है क्या ?'

'नहीं भैया—मैं अभी शादी नहीं करना चाहती ? मेरा विवाह ही मत करना।'

हँसकर मि० लाहिड़ी बोले, 'उठ पगली ! विवाह न करने के लिये ही मैंने तुझे इतने कष्ट के साथ पाल-पोसकर बड़ा किया था ? हो क्या गया तुझे अशोका ?' मि० लाहिड़ी अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। उन्हें बहिन से अत्यन्त स्नेह था।

'दादा, मैं माँ—बाप को नहीं जानती, तुम्हीं मेरे माँ—बाप—भाई सब हो; यदि तुम्हीं मुझे न समझो तो—कहाँ जाऊँ मैं फिर।'

मि० लाहिड़ी परमाश्चर्य से अन्धकार में डूबे जा रहे थे। क्या हो गया उनकी बहिन को।

'बोल तो लक्ष्मी बहिन—मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। मुझसे तुझे क्या शर्म लगती है ?'

'मैं शचीन के साथ विवाह नहीं कर सकती। यदि सचमुच विवाह करूँगी ही तो तुम्हें समय आने पर बता दूँगी। तुम चिन्ता न करो दादा; तुम्हारे पास तो बहुत धन है। मुझे दो मुठी केवल भात खाने को दे देना।'—मि० लाहिड़ी अशोका के सर पर एक प्यार की चपत लगाकर बोले, 'शचीन के साथ विवाह नहीं करना तो न कर—हाँ शचीन सत्पात्र अवश्य है। विवाह के बाद मैं तुम लोगों को विलायत भेज देता; यह निश्चय था मेरा। तू उसकी वाग्दत्ता है न बहिन।'

'वह वाग्दान नहीं मानती मैं—मैंने उसे किसी दिन नहीं चाहा। तुम चाहते हो इसीलिये सम्मति दे दी थी !'

मि० लाहिड़ी प्यार के साथ बहिन से बोले; 'जा नहा आ, दोनों ही चाय पियेंगे, मैं बैठा हूँ, तेरी साहित्य-सभा कब है ?'

'चार बजे' कह कर अशोका नहाने चली गई। मि. लाड़िली बहिन के कमरे में ही इधर-उधर घूमने लगे। टेबिल के ऊपर एक कविता लिखी रखी थी। अशोका कविता लिखती थी; अत्याधुनिक पत्रों में उसकी कवितायें प्रकाशित भी होती थीं। पढ़ी भी थीं मि. लाड़िली ने—वे इस कविता को भी पढ़ने लगे—

'वर्षा आओ, वर्षा आओ आओ नीरद- तनये,।
बोल उठेगा धान्य-शिशु तेरे यह सजल स्नेह-लिये॥

यह क्या ! अशोका तो ऐसी कविता नहीं लिखती। वे समस्त कविता पढ़ गये। अशोका की कुछ दिन पहले कही बात उनके मन में बिजली के समान कौंध गई—'साहित्य-सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति

है दादा, असुन्दर साधनों से उसको नहीं रचा जा सकता, जैसे कंकड़ों-की मिट्टी से सुन्दर प्रतिमा नहीं बनाई जा सकती। मिट्टी में कंकड़ मिले रहते हैं, किन्तु शिल्पी केवल मिट्टी छाँट लेता है। कंकड़ों की आवश्यकता यदि पड़ती है तो मिट्टी के साथ भेद ज्ञान के लिए।' यह ज्ञान कहाँ था अशोका में इतने दिन! आज वह सचमुच सौन्दर्य सृष्टि कर रही थी। 'मेघ कन्या वृष्टि की स्नेह-धारा में धान्य-शिशु चहकेंगे'—वाह, सुन्दर!

किन्तु अशोका ने क्या अपना चिरपरिचित पथ छोड़ दिया है? मि. लाहिड़ी सोचने लगे। स्नेहास्पद बहिन के लिये उनका मन उत्कंठित हो उठा। पिता उसे चार वर्ष की अवस्था में ही छोड़ गये थे और माँ उसके दूसरे साल ही। उसके बाद से अशोका मि. लाहिड़ी की गोद में ही पली थी। संसार में उन दोनों का और कोई सम्बन्धी नहीं था। बहिन को सुखी किए बिना मि. लाहिड़ी ने भी, शादी नहीं की थी। पहले उसी की शादी करने का प्रण था। उनकी वही प्राण-प्यारी बहिन थी।—मि० लाहिड़ी सोचे चले जा रहे थे—बचपन में अशोका को बुखार आने पर वे कालिज भी नहीं जाते थे। उन्हें नौकर-चाकरों पर विश्वास न था अगर बुखार में अशोका उल्टी कर देती तो वह उसे अपनी अंजलि में ले लेते थे। क्या हो गया अब उनकी उसी बहिन को!

अशोका वस्त्र बदल कर लौट आई, 'बहिन के लिए चिन्तित हो उठे, दादा! बहिन ठीक है तुम्हारी।'

'ठीक नहीं है—मेरी लक्ष्मी बहिन मुझसे न छिपा।'

भाई के पैरों के पास बैठ कर अशोका बोली, 'ऐसी कोई बात नहीं; मेरे जीवन में, जो तुमसे छिपानी पड़े। तुम्हीं तो मेरी 'माँ' हो दादा!'

मि. लाहिड़ी हँस पड़े। बॉय अशोका के आदेश से वहीं चाय

ले आया। भाई बोला, 'शचीन पसन्द क्यों नहीं आया तुझे ? वह अच्छा लड़का है ?'

'होगा, मुझसे मेल नहीं होगा—ये लोग प्रेम करना नहीं जानते।'

'क्यों ?' मि. लाहिड़ी ने अवाक् होकर प्रश्न किया ! उनकी आँखों में असीम विस्मय भरा था।

'प्रेम किसे कहते हैं, ये लोग यही नहीं जानते—ये लोग पशु हैं—ये शचीन जैसे लोग। 'प्रेम' बिना स्त्रियाँ जी नहीं सकती दादा'

मि. लाहिड़ी सम्भल कर बोले, 'शचीन ने क्या तेरे साथ कुछ अशिष्टता की है ?'

'नहीं दादा, उसके साथ मैं जान-बूझकर कई दिनों से नहीं मिली।'

'तो फिर—ऐसी बातें क्यों करती है बहिन ? शचीन अच्छा लड़का है, तुझसे प्रेम भी करता है।'

'नहीं ये लोग प्रेम करना नहीं जानते। इन लोगों की भूख केवल रूप के लिये होती है। मन की बात जानने की सहृदयता नहीं है इन लोगो में।'

अशोका उत्तेजित हो उठी। मि. लाहिड़ी ने उसके सिर पर हाथ रख कर कहा, 'बस, बस !'—बेयरा ने एक कार्ड दिया लाकर 'बिहाग' पत्र-सम्पादक ललित-कान्ति सेन आये हैं, अत्यन्त विरक्त होकर अशोका ने कहा, 'उफ ! परेशान कर दिया—क्या जरूरत है उसकी यहाँ ?'

'क्यों, उसके पत्र में रचनायें भेजती है न तू।'

'नहीं—अब मैं इन पत्रों में कोई रचना नहीं दूँगी।' अशोका उठकर नीचे आगई।

तरुण युवक ललित कान्ति। पतला, छरहरा लम्बा, गोरा ! शरीर पर बिना बटन का कुर्ता; जैसे एक तकिया की झालर हो—

बड़ा अजीब लग रहा था। अभी दो चार दिन पहिले अशोका उसकी 'स्मार्टनेस' की प्रशंसा कर चुकी थी। आज उसे वह बात याद कर शर्म लगी। नमस्कार कर बोली, 'आइये, क्या बात है? सबेरे ही—!'

'हाँ सब पत्रों में आपकी आज होनेवाली 'साहित्य गोष्ठी' की सूचना प्रकाशित करा दी है, देखिए।'—ललित ने एक गट्ठर पत्र तिपाई के ऊपर रख दिए।

'इसकी क्या जरूरत थी—क्यों प्रकाशित करा दी?' अशोका ने नाराजगी के साथ कहा।

'प्रकाशित नहीं कराता? क्या कहती हैं आप!' ललित ने अचरज से उसकी ओर ताका। देश को प्रत्येक व्यक्ति को दिखाना है कि स्त्रियाँ साहित्य में कितनी उन्नत हैं और उत्साही हैं।'

'नहीं—दिखाने की आवश्यकता नहीं।—खैर जाने भी दें। जो किया सो किया; थोड़ी चाय पीजिये न।'

अशोका ने ललित को चाय दी। अशोका को खुश करने के लिए ललित कल रात के दस बजे तक सम्पादकों के पास घूमता रहा और सबेरे उठते ही सब पत्र लेकर अशोका का प्रसाद खरीदने आया था। किन्तु! विस्मित हो गया ललित। अशोका के दिए निमन्त्रण-पत्र को दिखाकर ललित ने कहा, 'ठीक जो आपने पत्र में लिखा है मैंने वही प्रकाशित किया है मिस लाहिड़ी!'

'किन्तु मैंने आपको ही निमन्त्रण दिया था—पत्र में प्रकाशनार्थ नहीं।'

ललित को चाय अच्छी नहीं लगी। सब स्वाद-हीन लग रहा था। 'अल्ट्रा माडर्न गर्ल' अशोका में यह परिवर्तन कैसे हुआ। समझ नहीं पा रहा था वह।

इसी समय प्रसून आ गया। हाथ जोड़ कर बोला, 'नमस्कार'

'आगन्छन्तु ! कल कैसा बीता ! 'मारवेलस्' क्यों !' अशोका ने पूछा। प्रसून की समस्त मनोभूमि में कल से दावानल जल रहा था। बोला, 'आपके चले आने के बाद हम लोग भी चले गये।'

'झूठी बात ! चित्रा के समान दुर्धर्ष वाचाल लड़की ने आपको इतनी जल्दी छोड़ दिया !'

दुर्धर्ष वाचाल ! हाँ ठीक ही तो था ! प्रसून निरुत्तर रह गया।

'सुनिए प्रसून बाबू, आप अब न और कहियेगा कि आप पार्थदा के मित्र हैं। आप यह—जाने दीजिए। आप प्रातःकाल के अतिथि हैं—बुरा भला नहीं कह सकती मैं—किन्तु चाय पीजिये, आइये !' अशोका की यह कैसी मूर्ति। कल संन्ध्या और आज सुबह में इतना अन्तर। तो क्या अशोका ने चौरङ्गी का दृश्य अपनी आँखों से देखा था क्या ! प्रसून का हृदय काँप उठा। उसने धीरे से कहा, 'आपका कल का व्यवहार क्या खूब मार्जित और सुरुचिसंगत था अशोकादेवी ?'

'नहीं, नहीं था। कारण, आजकल की लड़कियाँ इच्छा करते ही वैसी बन सकती हैं, जब इच्छा हो बन जाती हैं। मैं भी कल चित्रा में ईर्ष्या पैदा करने के लिए उसी दल दल में आ गई थी। आपकी परीक्षा की थी मैंने।'

'क्या समझीं आप ?' प्रसून ने लम्बी साँस छोड़कर पूछा।

'समझ लिया कि आप पार्थदा के संगति के योग्य नहीं।'

'कौन पार्थदा—वैजयन्ती का सम्पादक ?' ललित ने पूछा।

'हाँ पहिचानते हैं क्या आप ? जानते होंगे निश्चय ही।' अशोका ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा।

'साक्षात् परिचय नहीं है; सुना है एक अत्यन्त गँवार और निरा बेवकूफ आदमी है।'

'चुप रहिए'—प्रसून ने धमकी दी।—'सूर्य प्रखर है, उसका

ताप, नहीं सह सकता, यह सोच कर केंचुआ भी गड्ढे में घुस कर सूर्य को गाली देता है।'

'आप तो, देखता हूँ, उनके अनन्य भक्त हैं प्रसून बाबू!' ललित ने दबकर कहा।

'नहीं—भक्त होने की योग्यता नहीं मुझमें—मैं भक्ति-हीन शिष्य हूँ। गुरु के आदेश की मैं उपेक्षा कर देता हूँ, किन्तु मैं भूलता नहीं कि वे मेरे गुरु हैं। अच्छा नमस्कार, नमस्कार अशोका देवी।' प्रसून चला गया।

अशोका खुशी से हँस रही थी। प्रसून को आज खूब शिक्षा दी!

'यह क्या बात है मिस् लाहिड़ी। पार्थ की निन्दा से उसका क्या बनता-बिगड़ता है।' ललित ने अशोका से पूछा।

'क्या होता है यह तो वही कह गया। जो हो, सुनिए ललित बाबू, आज की साहित्य गोष्ठी में मैंने अपने सब पूर्व-परिचित बन्धु-बान्धवों को बुलाया है। आज की इसी साहित्य-गोष्ठी से मैं आप लोगों के साहित्य-क्षेत्र से बिदा लूँगी।'

'क्या कहा—साहित्य-सेवा छोड़ देंगी? आप क्या कह रही हैं? इतनी बड़ी प्रतिभा है आपमें! नहीं, नहीं मिस लाहिड़ी! ऐसा क्यों कहती हैं?' ललित के कण्ठ में आवेदन का स्वर था। अशोका ने उसके सुन्दर मुख की ओर ताक कर कहा, 'छोड़ दूँगी यह बात तो नहीं कह रही हूँ। छोड़ नहीं सकती। फिर भी यह मैं समझ गई हूँ कि आप लोग जो साहित्य मेरे सामने 'अत्याधुनिक' कहकर रखते हैं, उसकी आधुनिकता केवल 'सेक्स' नहीं है—'वात्स्यायन' पढ़ने से ही समझ जायँगे। यह एक प्रकार का रोग है। आज लड़के लड़कियाँ रोगी हो गये हैं। खट्टा, मीठा हलका, तेज जो मिलता है, खाते हैं—सोचते नहीं

कि हानि होगी या मरेंगे। इस रोग से मैं तो कम से कम मुक्ति चाहती हूँ अब! मेरे शरीर का यह ज्वर अवश्य छूटना चाहिए, क्योंकि मुझे बचना है। अनुरोध यही है कि जो शक्ति लेकर आप जन्मे हैं, उसीसे सत्य, सुन्दर की मूर्ति निर्माण करिए, मनुष्य तृप्त होंगे। अधिक बात नहीं कहना चाहती मैं, ललित बाबू, नमस्कार, शाम को जरूर आइयेगा। हाँ, आपही को सभापति भी बनना होगा।'

२२

प्रसून घर आकर सो गया। कितना अधिक दुर्बल था वह। 'पार्थ के महान् चरित्र के निकट रहकर भी उसके जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ। कितनी ही क्षुद्र नारियों का मोह आज भी प्रसून को वशीकृत किए था। धिक्—क्या है। इस चित्रा में, इस मिसेज् बोस में। ये लोग भला क्या स्नेह-दान देंगी उसे? प्रसून के कवि-मानस के अतल गम्भीर रहस्य को कितना समझती हैं। ये लोग 'अर्द्ध के मानवी तुम अर्द्ध को कल्पना।' नहीं, चार आना नारी, तुम बारह आना कल्पना।' तुम्हारा जो कुछ नारीत्व है वह तो निद्रित है। प्रेम के स्वर्णिम-स्पर्श से तुम जगती नहीं—तुम मन को कामना के पिञ्जरे में बन्दी करके रखती हो। त्याग का मुक्ति-पथ तुम नहीं जानती! कौन बतायेगा तुम्हें कोई भी नहीं चाहता! सभी तुम्हें ठगते हैं क्योंकि तुम भी सबको ठगना चाहती हो! तुम्हें लेकर क्या होगा।' प्रसून ने उठकर मिसेज् बोस को एक चिट्ठी लिख दी।

'एक अत्यावश्यक कार्य होने के कारण मैं आ नहीं सकता। गाड़ी तथा ड्राइवर भेज रहा हूँ, आपको घुमा लायगा—जब तक इच्छा हो गाड़ी रोक सकती हैं।' —प्रसून

उसने गाड़ी और चिट्ठी भेज दी। वह अब इन लोगों के पास भी नहीं फटकेगा। किसी तरह नहीं! तो फिर कहाँ जाय! अपने पार्थदा के पास ही क्यों न जाय? पार्थदा अकेले ही माँ के साथ देश-देश घूमते फिरते हैं, उनका उद्देश्य है भारत में मानव-गौरव का पुनरुद्धार! आज दिल्ली, कल आगरा, परसों बम्बई। डगर-डगर, नगर-नगर, गाँव-गाँव सब जगह युवकों को बुलाकर वे विनीत शब्दों में अपना मन्तव्य निवेदित करते हैं। दैनिक-पत्र नित्य ही उनके सम्वाद सचित्र करके छापते हैं। पार्थदा के साथ वह उसी दिन क्यों नहीं चला गया। आज ही जायगा वह।

प्रसून ने समाचार पत्र उठाया; जानना चाहता था कि पार्थ का अगला प्रोग्राम क्या है। पार्थ का प्रोग्राम प्रतिदिन प्रकाशित होता था। तीसरे दिन लखनऊ में उसकी वक्तृता थी। 'भारत में महा-मानव का आविर्भाव' था—वक्तव्य का विषय। प्रसून ने उसी दिन जाने का निश्चय कर लिया। प्रसून जाने का सामान ठीक करने लगा। किन्तु प्रवीर-दा से कहकर जायगा—और मालती से भी।

प्रसून बाहर चला गया। माँ ने पुकार कर कहा, 'इस समय कहाँ जा रहा है रे प्रसून?'

'प्रवीर-दा से कहने जा रहा हूँ कि माँ, मैं आज ही पार्थ-दा के पास लखनऊ जा रहा हूँ'—कहकर प्रसून चला गया।

२३

सन्ध्या समय श्री गिरीश नीचे की मंजिल के प्राईवेट रूम में बैठे हुए बहुत कुछ सोच रहे थे। लम्बे-लम्बे चौदह वर्षों के बाद उन्होंने अपनी लड़की को वापस पाया था। उनकी अनेक आशायें आकांक्षायें आज उसी पर केन्द्रीभूत थीं। किन्तु सब व्यर्थ हुआ जा रहा था। किसी तरह वह काबू में नहीं हो सकी। जब से वह

आयी थी, जमीन पर ही सोती थी,—कभी पलङ्ग पर नहीं सोई। प्रासाद के सर्वोत्तम कमरे को सुसज्जित करके उसको रखा गया, किन्तु आश्चर्य! देवश्री उस कमरे के कार्पेट को भी हटा कर फर्श पर ही पड़ी रहती थी। किसी भी दिन उसने एक भी चीज नहीं छूई। इन दो चार सप्ताहों में ही वह सूख गई थी। पार्थ और उसकी माँ जादू जानती थीं क्या! इतनी सी लड़की। यह कैसी कुशिक्षा दी इन लोगों ने। आने के दूसरे दिन तक पार्थ का टेली-फोन मिलने से पहिले जल उसने भी नहीं पीया। उसके बाद से एक प्रकार का उपवास ही चल रहा था। डाँट-डपट कर क्या मनुष्य को खिलाया-पिलाया जा सकता है। श्री गिरीश क्या करें, यह सोच नहीं पा रहे थे। नौकर से पत्नी को बुलाने के लिए कहा। गृहिणी स्वयं ही आ रही थीं। आते ही वे हताश के समान बैठ गईं और बोलीं—'तुम क्यों लाये उसे वहाँ से? पहुँचा आओ उसे वहीं! नहीं तो वह प्राण दे देगी।' श्रीमती गोस्वामी के कण्ठस्वरूप में असीम कातरता थी। उनकी दोनों आँखों से आँसू बह रहे थे। श्री गिरीश बोले, 'खाया नहीं कुछ? कब से नहीं खाया?'

'एक दिन भी नहीं खाया; परसों शाम को सिर की कसम खिलाकर कुछ दूध पिलाया था; और कुछ फल और नीबू का शर-बत। इस तरह कैसे बचेगी वह! बोलो तो!'

'बचेगी नहीं? उसे बचना ही पड़ेगा। उसे श्री गिरीश की कन्या बनकर ही बचना पड़ेगा—चलो तो देखें हम!'

श्री गिरीश क्रुद्ध होकर उठ पड़े। श्रीमती गिरीश भी चलीं साथ-साथ। स्वामी की मूर्ति देखकर उन्हें डर लग रहा था।

'देवश्री, देवश्री!' श्रीगिरीश ने पुकारा कोई उत्तर ही नहीं मिला। द्वार ठेलते ही खुल गया! दूसी चुपचाप फर्श पर सोई

पड़ी थी। मुख-मानों-मँडराते हुए बादलों में चाँद निकला हो—शीर्ण, विवर्ण !

'देवश्री—आ—उठ—' श्रीगिरीश ने दुबारा पुकारा।

'मेरा नाम टूसी है ! जिनकी खुशी हो मुझे टूसी कहकर बुलायें। दूसरे नाम से मैं जवाब नहीं दूँगी !'—टूसी ने दूसरी ओर मुँह फिरा लिया। उसके घने-काले, लम्बे बालों के छोर पर एक गाँठ बँधी थी, पहनने का वस्त्र अत्यन्त मैला हो रहा था; कितने ही दिन से उसने न बाल बाँधे थे और न कपड़े ही बदले थे। कोई नहीं कह सकता था कि क्या होनेवाला था उसका !'

'घर से एकदम बाहर नहीं निकलती।' श्रीगिरीश ने पत्नी से पूछा।

'सबेरे ही स्नान करती है, उसके बाद न जाने किसका ध्यानादि करती है; उसके बाद दिन भर बैठी रहती है, या सो जाती है। रात में कभी-कभी बिल्कुल नहीं सोती, कब तक रह पाएगी इस तरह ?'—श्रीमती गिरीश रो पड़ीं।

श्रीगिरीश अत्यन्त कोमल कण्ठ से बोले, 'मेरी रानी बिटिया, उठो तो, खालो कुछ !'

'नहीं खाऊँगी—मुझे तङ्ग करने की कोई जरूरत नहीं, आप लोग चले जाइये !'

'जबर्दस्ती खिलाऊँगा—समझी ?' सर गिरीश गर्ज उठे। क्षण भर में टूसी खड़ी हो गई। उसके शीर्ण नेत्रों में बिजली सी जल रही थी। बोली, 'करो जोर—दवाएँ दो, इञ्जेक्शन दो—खवाओ, देखूँ तो सही आप कितने बहादुर हैं।'

'चाबुकों से अभी पीठ उधेड़ दूँगा।'

'उधेड़ दीजिए न !—कुछ नहीं कर सकते। चाबुक खाने का मुझे खूब अभ्यास है। चौदह वर्ष तक मैं आदर और सम्मान

और स्नेह—प्रेम के चाबुक खाती रही, आपके निरादर के चाबुक कैसे हैं यह भी देखूँ एक बार, आइये !' दूसी पीठ फेरकर खड़ी हो गई।

श्री० गिरीश अधीर हो गये। इस लड़की को कैसे दण्ड दें वे ! गुस्से से उनका सारा शरीर काँप रहा था ! वे कठोर-स्वर में बोले, 'मैं तुझे अस्तबल में बाँधकर रखूँगा—समझी !'

'खूब अच्छा होगा पिताजी—वही होगी ठीक जगह—अपने स्वामी के लिये मैं तपस्या करूँगी वहाँ! भेज दीजिए मुझे अस्तबल में—अभी भेज दीजिए !'

अजीब है ! इससे मेरी मान-मर्यादा की कैसे रक्षा होगी। ये तो हाथ से बाहर है।—श्रीगिरीश कितनी ही बातें एक साथ—सोच गए। बोले, 'देवश्री, क्या पिता-माता के प्रति तेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं।'—श्रीगिरीश का कण्ठस्वर स्नेहार्द्र हो गया था। दूसी ने अविचलित होकर धीरे से कहा, 'अवश्य है; किन्तु माँ—बाप पहिले अपना अधिकार तो पैदा करें; नहीं तो कैसे पहचानूँगी उन्हें ! आत्म-समर्पिता लड़की को उसके स्वामी के पास से छीन ले आकर…।'

'तुम्हारा स्वामी ! तुम्हारी शादी ही नहीं हुई अभी—स्वामी।'

'हाँ—हाँ—हाँ—मेरे स्वामी—मेरे लाखों करोड़ों जन्म के स्वामी ! क्यों क्रोध करते हैं पिताजी ! मैंने चौदह वर्ष उनके साथ ब्रह्मचर्य-साधना की है; मैं इन पुरानी आँखों से थोड़ा भी नहीं डरती। जो मरने को तैयार हो उसे आप भय किसका दिखाते हैं ? आत्म-हत्या से वे घृणा करते हैं, इसीलिये मैं अभी तक मरी नहीं हूँ अन्यथा दीवाल से माथा ठोक-ठोककर मैं अपने शरीर को चूर्ण-विचूर्ण कर देती।' बेचारी दूसी हाँफने लगी।

हताश होकर श्रीगिरीश बाहर के बरामदे में आकर खड़े

हो गये। नहीं, उन्हें अब कोई आशा न थी। किन्तु इतनी दृढ़ता कैसे आई इसमें। श्रीगिरीश के व्यक्तित्व के सामने कोई व्यक्ति अपनी बात भी नहीं कह पाता, और उन्हीं को देवश्री ने—उन्हीं की पुत्री ने—आत्म-हत्या का भय दिखा दिया। आश्चर्य! किन्तु जैसे भी हो, इसको पिछले चौदह वर्षों का जीवन भूलना ही पड़ेगा। सर गिरीश एक दरिद्र, नगण्य, विप्लवी को कन्या-दान नहीं कर सकते। लौट आये (अपनी बेटी के पास)।

'देव-श्री, मेरी रानी बिटिया, तू अपने बाप की स्थिति नहीं जानती?'—श्रीगिरीश का स्वर आवेग से कम्पित हो रहा था—मेरा समस्त सम्मान आज तेरे ऊपर निर्भर करता है बेटी! सभी जान गये हैं कि मुझे मेरी खोई हुई लड़की मिल गई है। बड़े-बड़े आदमी रोज मुझे 'कान्ग्रेचूलेशन्स' के टेलिग्राम भेज रहे हैं। तू यदि इस प्रकार करेगी तो मेरा सर्वनाश हो जायगा।'

'मैंने कुछ नहीं किया, पिताजी। मैंने जिसे अपना देवता मान रखा है उसके हाथों में मुझे सौंप दीजिए—यही मेरी विनती है।'

'यह नहीं हो सकता बेटी, सर गिरीश की पुत्री के विवाहार्थ वह योग्य-पात्र नहीं बेटी!

'तो फिर पुत्री को छोड़ दीजिए; सबसे कह दीजिए कि आपकी लड़की मर गई।

'इतने दिन बाद पाकर मैं तुम्हें कैसे छोड़ दूँ। मैं अपना सर्वस्व देकर भी क्या तुम्हें अपना नहीं सकता?

'नहीं, नहीं अपना सकते। आपका सर्वस्व पाने से मेरा कोई काम नहीं होगा। अपना रुपया और 'टाईटिल' लेकर आप सुखी रहिए। मुझे छोड़ दें। नाबालिग लड़की को उसके पिता की सम्मति के बिना वे नहीं रखेंगे, इसलिये मैं आगई हूँ नहीं तो आप किसी प्रकार भी मुझे नहीं ला सकते थे।' दूसी की आवाज रोने के

कारण टूटी जा रही थी। वह थर-थर काँप रही थी। श्रीमती गिरीश ने झट से पकड़ लिया उसे। श्री गिरीश बड़े क्रोध के साथ, फिर गर्ज उठे, 'तुझे जैसे भी हो, चौदह वर्षों की बातें भूलनी ही पड़ेगीं। इसके लिये जो भी करना पड़े मैं करूँगा; अन्त में यदि तू नहीं मानेगी तो मैं तुझे ही समाप्त कर दूँगा—एक दम।'

'पिताजी-पिताजी-इसी समय कर दीजिए न समाप्त इसी समय खतम कर दीजिए न पिताजी।' दूसी हाँफने और काँपने लगी। श्रीमती गोस्वामी ने उसे रोका। श्रीगिरीश क्रोध और क्षोभ से गरजते हुए नीचे उतर गये। श्रीमती गोस्वामी ने दूसी को पकड़कर बैठा दिया और बोलीं, 'इस तरह चिल्ला मत बेटी—बेहोशी आ जायेगी—रानी बेटी!'

'माँ, तुम भी क्या पिताजी का साथ दे रही हो? यदि दे रही हो तो अभी चली जाओ यहाँ से—तुम मेरी 'माँ' नहीं हो। तुमने किसी दिन भी 'माँ' जैसा कोई काम नहीं किया। जन्म देने से ही माँ—बाप नहीं बना जाता।' दूसी रो-रोकर आकुल हो उठी। श्रीमती गोस्वामी घबड़ा कर बोलीं, 'तुझे पार्थ के पास लौटा देने के सिवाय और जो कुछ भी चाहे, कह, मैं तुझे सब दूँगी—बोल तो।'

'वहीं लौटाना होगा; और मैं कुछ नहीं चाहती।'

श्रीमती गोस्वामी चुप हो गईं; कुछ सोचकर बोलीं, 'कुछ दिन बीतने दो बेटी, अपने पिता का क्रोध जरा ठण्डा होने दो; न खाकर तू इतने दिन कैसे बचेगी?'

'मुझे बचाने की जरूरत नहीं—मौत ही मुझे बचा सकेगा।'

'अच्छा, एक बार ही खाया कर, किसी के हाथ का बना न खाय तो तू अपने ही हाथ से बनाकर खाया कर—दूसी?' कुछ

देर सोचकर टूसी ने जवाब दिया—'अच्छी बात है, मुझे बचना ही पड़ेगा, नहीं तो वे दुर्बल हो जायेंगे; उनके पास मुझे लौटकर जाना ही पड़ेगा—जैसे भी हो। तुम यदि मेरी सचमुच माँ हो तो मेरे स्वयं—पाक का प्रबन्ध कर दो, एक बार खाऊँगी—सादा चावल, उबले आलू और दाल; और कुछ नहीं खाना मुझे।'

'थोड़ा सा दूध—थोड़ा सा घी।'

'नहीं—नहीं—नहीं—मैं किसी प्रकार भी नहीं खाऊँगी। मेरे 'सर्वस्व' न जाने कहाँ दर-दर की ठोकरें खाते, घूमते फिर रहे हैं?'

कन्या की ऐसी असीम दृढ़ता देखकर श्रीमती गोस्वामी के मन में वेदना के साथ-साथ एक अद्भुत अभूत-पूर्व आनन्दानुभूति भर गई। उनके हृदय की सुप्त सती-शक्ति जैसे सुमधुर भाषा में कह रही थी—'यही एक-निष्ठ प्रेम ही 'मानव-जीवन' की श्रेष्ठ सम्पत्ति है।' मानवों के लिये इससे बढ़कर कोई चीज नहीं!' टूसी की अत्युग्र दृढ़ता के माधुर्य से उनका मन आनन्द से भर उठा। कन्या के माथे पर हाथ रखकर उन्होंने कहा, 'ऐसी ही बनी रहो बेटी, तुम बची रही तो अपने स्वामी को अवश्य पाओगी, यह मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ, बेटी!'

इतने दिनों बाद टूसी ने माँ को पैर छूकर प्रणाम किया।

चित्रा कमरे के सामने आकर खड़ी हो गई। टूसी ने मुँह फेर लिया।

'क्या हुआ श्रीमती गोस्वामी, मिस् गोस्वामी रोती क्यों हैं? क्या बात है?'—बात क्या है, यह चित्रा नीचे ही श्री गिरीश से सुन आई थी। किन्तु यहाँ उसे कुछ सहानुभूति दिखानी थी न। श्रीमती गोस्वामी चित्रा से बोलीं, 'आओ बेटी—तुम उसके साथ कुछ बातचीत करो—आओ!'

'नहीं—मेरी किसी के साथ बात करने की इच्छा नहीं; मैं

अकेली रहना चाहती हूँ।'—कहकर टूसी तकिए में सिर छिपा कर सो रही।

श्रीमती गोस्वामी समझ गईं कि टूसी चित्रा को नापसन्द करती है—किसी को तो नहीं चाहती वह! वे इशारे से चित्रा को बाहर बुला ले गईं। नीचे आकर सब लोग श्री० गिरीश के बैठकखाने में ही बैठ गये। श्रीमती गोस्वामी स्वामी से बोली—'जोर—जबर्दस्ती से कुछ नहीं होगा, मैंने सब कुछ प्रबन्ध कर दिया है, तुम चिन्ता मत करो।'

'अच्छी बात है—मैं क्या पागल हूँ! वह जो खुशी हो करे न—केवल अपना पूर्व-जीवन भूल जाय—समझीं—?'

'भूलना ऐसा सरल काम नहीं है जी! भूलने में भी समय लगता है।'

'समय लगने दो—किन्तु भूलना ही पड़ेगा। पढ़ना-लिखना होगा, समाज में मिलना-जुलना पड़ेगा; मेरी पुत्री होने के योग्य होना पड़ेगा—इसी प्रकार तो रहा नहीं जा सकता!'

'अच्छा, ऐसा ही होगा।'—कहकर श्रीमती गोस्वामी कन्या की भोजन व्यवस्था करने चली गईं। चित्रा भी उठकर गाड़ी की ओर चल दी—सोचते—सोचते····। वह बड़ी आशा लगाकर टूसी को सर गिरीश के पास लाई थी। केवल दस हजार रुपये का चैक ही नहीं था उसका लक्ष्य—टूसी ही उसका लक्ष्य थी। उसका भाई देखने में ठीक था—विलायत से सिविल इञ्जीनियरिंग में डिग्री लेकर आया था। 'कैपीटल' मिलने पर उसका भाई 'मार्टिन' के समान एक कम्पनी चला सकता था। उसी भाई को क्या टूसी पसन्द नहीं करेगी? किन्तु कौन पसन्द करेगा, टूसी तो उसे आँखें मिलाकर देखेगी भी नहीं। हूँ! बहुत लड़कियाँ देखी हैं उसने, ऐसी सती की बच्ची कोई नहीं देखी! आई कहीं की—

फूत्। चित्रा ने घृणा से भौंह सिकोड़ ली। फिर ख्याल आया उसे। एक बार अशोका के घर जाना पड़ेगा—वह भी क्या पार्थ की ओर ही चल दी? दादा के लिये और तो कोई दीखती नहीं। शचीन को तो अशोका ने निराश कर दिया, क्यों? शचीन क्या खराब लड़का है? कवियों की भी क्या पसन्द होती है बाबा! अशोका की भी कुछ थाह ली जाय। दादा की शादी न होने से तो अब अच्छा नहीं लगता। यह सिप्रा भी कितनी बुरी है। इतने दिन आशा ही आशा में रखकर दादा को इतने लोगों के सामने ही जवाब दे दिया—शादी नहीं करेगी। अच्छा देखूँगी किससे ब्याह रचेगी वह? पार्थ को तू किसी तरह नहीं पा सकती, छोकड़ी—तू उसके पद-धूलि के भी योग्य नहीं। वह टूसी के लिये हृदय-विदारक रुदन करके धरती फाड़े दे रहा है; बाप रे! क्या देख आई थी उस दिन! पार्थ जैसे पत्थर हो गया हो, मानों कोई पाताल के गर्त्त में से बोल रहा हो। मनुष्य एक दूसरे मनुष्य को इतना प्यार कैसे करता है? पार्थ को और कोई लड़की नहीं पा सकती, वह टूसी का ही है। चित्रा यह सोचते-सोचते खुद ही चौंक पड़ी। टूसी को अब पार्थ पायेगा कैसे? श्री० गिरीश के ग्रास से उसका उद्धार नहीं हो सकता। श्रीगिरीश भी परले सिरे के मूर्ख हैं! किसी दिन भी वे किसी भी समाचार—पत्र में पढ़-कर जान सकते थे कि पार्थ क्या वस्तु है। उसको जमाई बनाने से ऐसे हजार 'सर' गिरीश धन्य हो जाते। सारे देश में उसे जान गये हैं लोग। किन्तु यदि श्रीगिरीश पार्थके विषयमें किसी दिन पढ़ ही लें तो। हाः हाः कुछ नहीं समझ सकते। 'विप्लवी' समझेंगे वह पार्थ को। उसके महामानवत्व के व्याख्यानको 'सर' गिरीश क्या समझें। अच्छा हुआ कि—अंग्रेज चले गये नहीं तो और क्या होते, कुछ कहा नहीं जा सकता। आदमी एक दम

निरा उल्लू है। सम्मान का मोह उसे खत्म किए दे रहा है।

गाड़ी अशोका के द्वार पर आ पहुँची। चित्रा ऊपर चली गई। अशोका एक कागज पर कुछ लिख रही थी।

'क्या है भाई—कविता है शायद ?' चित्रा ने पूछा।

'हाँ—आओ—क्या हालचाल है भाई ?' अशोका ने कहा।

'ठीक हूँ—किन्तु तुम ठीक नहीं मालूम पड़ रही हो—अस्वस्थ हो क्या ?'

'नहीं—अच्छी ही तो हूँ—बैठो !' अशोका ने कविता में मन लगाया।

'वाह जी ! मैं आई हूँ और वह कविता लिखती रहेंगी। अच्छा मुझे भी सुनाओ यह कविता।'

'अरसिकेषु कवित्व—निवेदनम्' मैं नहीं कर सकती भाई।' कहकर अशोका मुस्करा दी।

'रसिक महोदय कब आयेंगे, यह जान सकती हूँ क्या ?'

'इसी समय आ सकते हैं कोई भी रसिक।'—अशोका ने उसकी ओर हँसकर ताका।

'माने ? पार्थ बाबू तो प्रवास में हैं; प्रवीर बाबू व्यस्त रहते हैं, प्रसून भी यहाँ नहीं है—रसिक कौन है ?'

'अभी सिप्रा ने आने को कहा है—फोन किया था।'

'सिप्रा ! सिप्रा है तुम्हारी 'रसिक-राज'। कमाल कर दिखाया तूने अशोका !'

'क्यों नहीं ? वह आजकल बड़ी सुन्दर कविता लिखती है। इस महीने की 'वैजयन्ती' देखी है।'

'जरूरत नहीं उसे देखने की और—वह तो प्रवीर बाबू ने छापी है; प्रवीर बाबू कहती कुछ....।' चित्रा मुँह छुपाकर हँस दी थोड़ा।

अशोका ने विस्मित होकर कहा, 'कुछ क्या ?'

'सिप्रा के ऊपर नजर है।'

'कैसे जाना तुमने ?'

'यह सब समझने को गणित नहीं लगानी पड़ती—समझीं। आँखें खोलकर देखते ही समझ में आ जायगा।' अशोका चुप रह गई। चित्रा ने तीक्ष्ण हँसी हँस कर कहा, 'ईर्ष्या हो रही है—नहीं, किन्तु सिप्रा भी प्रवीर बाबू····।'

'जा; सिप्रा पार्थ को चाहती है—उस दिन उसने मुझसे स्पष्ट कह दिया था और अब भी पार्थ बाबू ही 'वैजयन्ती' का सम्पूर्ण निर्वाचन करके भेजते हैं, इसलिये सिप्रा की कविता अच्छी ही है।'

'अच्छा है बाबा, अच्छी है, मैं पूछती हूँ शचीन को जवाब क्यों दे दिया।'

'अन्दाज लगाओ।' कहकर अशोका बालिका के समान हँसने लगी। उसके मुख पर प्रेम का कोई लक्षण न था; क्या बात है फिर। प्रवीर और पार्थ तो हो नहीं सकते, प्रसून कोरा बकवादी है। फिर कौन है अशोका के मन में। चित्रा की चिन्ता-धारा अनेक गलियों के चक्कर काटने लगी। नहीं और किसी को नहीं खोज सकती।

'नहीं कह सकती चित्रा! मैं किसी को प्यार नहीं करती; मैं ऐसे ही रहूँगी! शादी नहीं करूँगी।'

'क्यों! भाई की ओर नहीं देखेगी। बड़ी स्वार्थिन है।'

'भाई के ही लिये तो। विवाह होने से मुझे दुःख होगा और मेरे श्रेष्ठधन दादा दुःखी होंगे—यह मैं किसी प्रकार भी नहीं होने दे सकती।'

'धन्य! तुम सबको क्या होगया है जी। सबकी सब 'आदर्श' के गीत गाती हो। बार-बार कहती हूँ धन्य, धन्य,

धन्य ! अब जाती हूँ मैं।' चित्रा चली गई। बच गई अशोका। सिप्रा के साथ उसे बहुत सी बातें करनी थीं। चित्रा के रहते सब बातें नहीं की जा सकती थीं।

सिप्रा ने आकर द्वार पर से आवृत्ति शुरू की :—

'श्यामायित धरणी के आँचल की कोर में
चंचल मधुरता यह किसकी जाग गई है।
रूपसी चित्रा यह किसका विषबाण खाकर
अभी-अभी तेरे द्वार पर से भाग गई है।
सखी री·····'

अशोका ने हँसते-हँसते सिप्रा को पकड़कर खींचा और उसे हृदय से लगाकर बिछौने पर लोट-पोट हो गई।

२४

प्रसून लखनऊ स्टेशन पर आ उतरा। पार्थ शहर में स्टेशन से दो मील दूर ठहरा था। एक होल्ड-ऑल और सिर्फ एक सूट-केस भर प्रसून के साथ था। स्वयं ले जा सकने पर पार्थदा खूब खुश होते; वे होते तो निश्चय ले जाते। किन्तु प्रसून नहीं ले जा सका। उसे अभ्यास नहीं था। प्रसून ने सोचा, एक टैक्सी ले ले। नहीं—देश का काम करने में विलासिता—पार्थदा नाराज हो जायेंगे। प्रसून ने एक ताँगा ले लिया और उसी में बैठ गया।

ताँगा शहर के बीच में होकर जा रहा था। एक मैदान में खूब भीड़-भाड़ जमा हो रही थी। प्रसून ने ताँगे में से ही देखा कि चारों ओर आदमी ही आदमी दीख पड़ रहे थे। कोई व्याख्यान दे रहा था? हलचल में कुछ सुनाई नहीं दे रहा था। ए रुको तो—ताँगा रोको जरा—ताँगा रोकवाकर प्रसून नीचे उतर पड़ा। नहीं भूल नहीं हुई। यह तो पार्थदा भाई थे। आनन्द में

प्रसून अपने को भूल गया। उसके पार्थदा भाई भाषण दे रहे थे! और इतने आदमी सुन रहे थे। जय हो पार्थ दादा की! प्रसून एक ऊँची जगह पर खड़ा हो गया। ताँगा वाला जल्दी मचाने लगा। प्रसून ने उसे पाँच रुपये का नोट देकर कहा—खड़े रहो बेटा और भी इनाम दूँगा। हुर्रे। पार्थदा कैसा सुन्दर बोल रहे हैं। आदमी मूर्तिवत् खड़े सुन रहे हैं। प्रसून कान लगा कर सुनने लगा :—

'मनुष्य के बीच में महामानव का बीज सोया पड़ा है। उसी को जगाना पड़ेगा—उसी बीज को अंकुरित पल्लवित और पुष्पित करना पड़ेगा, तभी सृष्टि का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध होगा—मानव जन्म सफल हो उठेगा। भाइयो, मानव महा-मानव बनता जा रहा है, यह समझने में देर नहीं लग सकती। जड़ से प्राणों का स्पन्दन हुआ—उसके एक कोष प्राणी में से ही आज लक्ष-कोटि कोषों से सुसंगठित मानव—देह बन गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखिये, चेतना-हीन पत्थर; अर्ध-चेतन उद्भिज, अपूर्णाङ्ग प्राणि-देह से लेकर आज के पूर्ण-चेतन मानव-देह तक, सम्पूर्ण आविर्भाव इसी पृथ्वी की गोद में हो गया। हम यह सब समझ कर भी इससे परवर्त्ती भावी मनुष्य को क्यों न बुलायें। अपूर्णाङ्ग एक-कोष के जीव से लेकर बहु-कोष-मय मानव-मस्तिष्क तक; कई करोड़ वर्षों की जीवन क्रिया में इतना परिवर्तन सम्भव हो सका तो फिर और कई हजार या लाख वर्षों के विवर्तन में महा-मानव का मस्तिष्क भी पैदा हो सकता है! इसमें कुछ भी असम्भव नहीं।

वे महामानव आयेंगे ही—उनकी पदध्वनि प्रत्येक। मनुष्य के रक्त के बीच अनुरणित हो रही है; जैसे करोड़ों वर्ष पहिले एक दिन एक—कोष जीव के बीच मनुष्य के आविर्भाव का संकेत मिला था। हम लोगों का कर्तव्य है कि हम उस महा-मानव के

लिये इस पृथ्वी को लीला-भूमि बना डालें नहीं तो उनके आने में विलम्ब होगा—कारण, जिस प्रकार एक—कोष जीव की साधना के फल-स्वरूप हम लोग उत्पन्न हुए उसी प्रकार हम लोगों की साधना के पथ से महामानव अवतीर्ण होंगे। वे आपके पुत्र-रूप में आयेंगे अथवा आगे आनेवाली बीसवीं पीढ़ी तक आयेंगे, यह मैं नहीं जानता—जानने की आवश्यकता भी नहीं। हम लोगों की साधना उनके शीघ्र प्रादुर्भाव के लिये ही है।

इस भारत में ही वे आयेंगे। भारतीयों ने ही सर्व प्रथम उनकी पदध्वनि सुनी है—सबसे पहले भारत ही समग्र संसार को उस महामानव का संदेश सुनायेगा। भाइयों, आप तैयारी कीजिए; ईश्वर है या नहीं यह जानने की आवश्यकता नहीं—मनुष्य अपनी आत्मा में ही ईश्वर का आविर्भाव करेगा, और उस ईश्वरीय विभूति द्वारा ही अपने महा-मानवत्व को जाग्रत करेगा।'

तॉंगे पर खड़ा होकर प्रसून मेघ के समान गर्ज उठा—'जय हो महामानव की जय हो—जयतु भारत-जननी।' भीड़ ने प्रसून की ओर ताका; प्रसून अपनी जगह पर उछल रहा था। वह उछल कर ताँगे से उतरा और पार्थ की ओर दौड़ा। उसके बाद समवेत-स्वर से जय-ध्वनि के बीच प्रसून पार्थ को अपने साथ ही बिठाकर पार्थ के निवास स्थान पर ले आया।

गाड़ी से उतरकर पार्थ घर में घुसा—पीछे-पीछे प्रसून था। पार्थ के हाथों में कलकत्ता गजट था—'माँ टूसी ने खूब अच्छी तरह आई० ए० पास कर लिया।'—माँ ने दोनों हाथ जोड़कर अपने देवता को प्रणाम किया। उनकी टूसी का मङ्गल हो।

'माँ, पता नहीं उसके पिता जानते हैं या नहीं; एक चिट्ठी लिख दूँ माँ, प्रसून यह खबर न लाता तो शायद मैं ही अभी न जान पाता।'

'चिट्ठी लिख दो—और कुछ मिठाई खरीदकर मन्दिर में चढ़ाकर प्रसाद बाँट देना, मानता की थी मैंने।'

प्रसून माँ को प्रणाम कर मिठाई खरीदने दौड़ा। पार्थ स्नान करने गया।

चढ़ावा करके और प्रसाद बाँटकर प्रसून ने पार्थ से कहा, 'रसोई का क्या प्रबन्ध है पार्थदा, आप स्वयं ही राँधते हैं क्या?'

'हाँ, भाई—माँ तो टूसी के सिवाय और किसी के हाथ का खाती नहीं।'

प्रसून ने माँ के पास जाकर करुण-कण्ठ से कहा, 'मैं यदि रसोई करूँ तो नहीं खायेंगी आप?'

'खाऊँगी, जाओ बेटा, दोनों मिलकर खाना पकाओ।'

माँ सोई पड़ी थीं। वे टूसी का वियोग नहीं सह पा रही थीं। उनका शरीर क्षीण हो गया था। जोर से बोल भी नहीं सकतीं थीं।

खाना समाप्त कर प्रसून माँ के पास आ बैठा और बोला, 'अपनी 'अलकनन्दा' पुस्तक की कवितायें जो अनूदित की थीं तुमने अमेरिका या और कहीं भेजने को कहा था, उनका क्या हुआ; भेजा था?'

'हाँ टूसी ने ही भेज दिया था'—पार्थ का कण्ठ-स्वर इतने में ही काँप उठा। प्रसून अत्यन्त म्लान और अप्रतिभ हो गया। अनजाने में उसने पार्थ के मर्म स्थान को छू दिया था।

कल सुबह रिटायर्ड जस्टिस श्रीओंकारनाथ अधिकारी (पुराने 'सर') के घर पार्थ का निमन्त्रण था। प्रसून ने पार्थ को अन्यमनस्क करने के लिये कहा, 'सुबह का निमन्त्रण क्यों माना पार्थदा? बड़ी असुविधा होगी; तुम जाना, मैं रसोई करूँगा।'

'तू नहीं बना सकेगा प्रसून, झूठ क्यों बोलता है, कल खा-पीकर घर चला जा।'

'पैरों में सिर मारकर मर जाऊँगा पार्थदा, यदि घर जाने को कहा तो ! मैं यहीं माँ के पास रहूँगा।'

'तुम रहना बेटा; रहना।'—माँ ने प्रसून की पीठ पर हाथ रखकर कहा।

'यह लो !' प्रसून खुशी से नाच उठा, पार्थ हँस दिया।

यहाँ के सभ्य-समाज की ओर से सर ओंकारनाथ ने प्रातः-काल का ही निमन्त्रण दिया था। पार्थ प्रस्तुत होकर जाने लगा। सन्ध्या समय एक और जगह प्रचार करना था उसे।

पार्थ को लेने के लिये गाड़ी आगई। पार्थ ने माँ को प्रणाम किया और गाड़ी पर आ बैठा। सर ओंकारनाथ के प्रकाण्ड प्रासाद के सबसे बड़े कमरे में मजलिस जमी थी। वहाँ के अधि-कांश सम्भ्रान्त स्त्री-पुरुष सभी—इस महा-मानवत्व की गंगा का आह्वान करने वाले भागीरथ का अभिनन्दन करने के लिये एकत्र हुए थे।

गाड़ी से स्वयं सर ओंकारनाथ ने पार्थ को उतारा, और एक आसन पर बैठा दिया। श्रीमती ओंकारनाथ की सुन्दरी कन्या धूपछाया देवी पार्थ के गले में माला पहिनाने आईं, पार्थ ने कुछ संकोच के साथ माला अंजलि में ही ले ली। गले में न पहिनने से सभी कुछ बुरा-सा मान गये। सभा का आयोजन व्याख्यान सुनने के लिए नहीं बल्कि प्रवासी बंगालियों द्वारा एक बंगाली युवक का आन्तरिक अभिनन्दन, करने के लिये ही किया गया था, कुछ जलपान का भी प्रबन्ध था।

आगन्तुकों में से दो एक ने पार्थ से दो चार प्रश्न भी किए। श्री ओंकारनाथ 'मिशन्स' के अत्यन्त भक्त थे। उन्होंने पूछा, 'मिशन के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ? उसका काम कैसा है ?' पार्थ ने सविनय उत्तर दिया—'ठीक है ! अधिक कुछ नहीं

कह सकता। इतना हम सभी जानते हैं कि मानसिक भोग वासना न छोड़ कर केवल बाह्य-भोग के त्याग का कोई भी अर्थ नहीं। बाहर का रंग अन्तर को नहीं रंग पाता। किन्तु आन्तरिक रंग बाहर भी प्रकाशित हो जाता है। अनेक मिशन्स, अनेक शुभ कार्य कर रहे है। शायद उनका भी यही मत है कि आन्तरिक भोग—स्पृहा को जागृत रखकर महामानव का आह्वान-गान नहीं गाया जा सकता, किन्तु बाह्य-भोग पूर्ण मात्रा में रखकर भी मनुष्य महामानव बन सकता है। त्याग सीखने के लिये भोग की भी आवश्यकता है। किन्तु बाहर के गृह-स्त्री पुत्रादि त्याग कर अन्तर को वासना—पङ्किल रखकर त्याग का राज-हँस अवतीर्ण नहीं होता। उसी पङ्क में दो चार कमल, जैसे, मानव-सेवा, आर्त्त-सेवा या समाज-सेवा आदि खिल सकते हैं किन्तु त्याग-गंगा का पावन-जल आये बिना सृष्टि—कर्ता ब्रह्मा नहीं आ सकते। उनका कमण्डलु शून्य रह जाता है।'

पार्थ की प्रत्येक बात युक्ति-संगत और सार-पूर्ण थी। कुछ देर ठहर कर पार्थ ने फिर कहा, 'गुरुओं ने महा-मानवता का उपदेश किया उनके सुयोग्य शिष्यों ने महामानव के आह्वान के लिये मानव पुरोहित गढ़ने का मन्त्रोच्चारण किया; किन्तु कभी-कभी उनके सेवक गण, एक देशी शब्द के साथ एक, विदेशी शब्द जोड़कर आर्त्त-सेवा, समाज-सेवा आदि करने का उद्धत अहङ्कार दिखाते हैं। किन्तु निःस्वार्थ सेवकों का मूल मंत्र यही होना चाहिए कि—'हम सेवा के मालिक नहीं हैं, हमारे द्वारा वे ही सेवा कराते है।'

'आत्मा की जो साधना महापुरुष अपने जीवन द्वारा दिखा गये, शिष्यों के बीच उसकी छाया भी नहीं है। जिस पथ का अनुसरण कर स्नेह-मयी माता के रूप में ईश्वर साक्षात्कार होता

है, वह पथ बहुत दूर छूट गया है। उसकी उन्हें कुछ सुध नहीं रहती। पार्थिव जगत् के कुछ कार्यों में ही उनके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है। अन्तर्जगत बहुतों का अछूता रह जाता है। इस भूल से प्रत्येक मिशनरी को सावधान रहना चाहिए।'

पार्थ की इन सामान्य दो-चार बातों से ही सर ओंकारनाथ के मन में गम्भीर हलचल होने लगी थी। एक महिला ने पूछा, 'आप तो एक श्रेष्ठ कवि हैं, 'कवीन्द्र' के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?'

'वे परम शक्तिमान् कवि थे—श्रेष्ठ कलाकार—किन्तु उनका स्वर अत्यन्त मिष्ट था। देशवासियों को और समस्त विश्व को उन्होंने अपनी मधुर मुरली-ध्वनि सब सुरों में सुनाई, किन्तु उनके कण्ठ में महामानव के योग्य आह्वान-मन्त्र-ध्वनि नहीं थी—क्योंकि उनके वचन और कार्यों में सामञ्जस्य नहीं था। वे विश्व-मानवता का गान करते थे और महामानवता का आभास भी होता था उन्हें, किन्तु वास्तविक जीवन में वे अत्यन्त दुर्बल थे। जीवन की वास्तविकता को सर्वांश में न लेकर भी उन्होंने साहित्य श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि की। दूसरे देशों में सिर्फ जीवन की वास्तविकता को ही लेकर साहित्य रचा गया है। किन्तु आदर्श और यथार्थ के मिलन-केन्द्र में ही महा-मानव-साहित्य का जन्म होगा। एक का दान 'कवीन्द्र' ने हमें कर दिया है, दूसरे को हमें अपनी साधना द्वारा लाना होगा और दोनों का सम्मिश्रण करना पड़ेगा। हर्ष है कि इस ओर एक महापुरुष सतत प्रयत्न-शील हैं।'

एक तरुणी ने पूछा, 'तरुण-साहित्य के सम्बन्ध में क्या मत है आपका ?'

पार्थ ने कहा, 'मत देने की जरूरत तो नहीं समझता। क्योंकि

'यह बालक कैसा होगा' यह कहना दुःसाहस भले ही कहलाये, सत्साहस नहीं कहा जा सकता। कोई भी भविष्य-वाणी गलत भी हो सकती है; किन्तु छोटे-मोटे पेड़ रूखों में यदि कोई 'महीरुह' हैं तो वे अवश्य ही अनिवार्य गति से आकाश की ओर बढ़ते जायेंगे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।'

पार्थ से और किसी ने प्रश्न नहीं किया। सब लोगों ने उसकी युक्तिपूर्ण बातों की सराहना की। श्रीओंकारनाथ ने कहा, 'इस तरुण अवस्था में आप इतना आगे बढ़ गये, यह देखकर बहुत सन्तोष हुआ। विवाह कर चुके हैं न ? घर में माँ के अतिरिक्त और कौन-कौन हैं ?'

'और कोई नहीं हैं। शादी करूँगा नहीं—कारण, अपनी मनोनीत पत्नी को नहीं पा सका।'—पार्थ फिर स्पष्ट कह गया !

'क्यों ? क्यों ?'—सबने व्यग्रता के साथ पूछा।

'वह धन और कुलीनता के अन्धकार में खो गई।'

'आप जैसे सत्पात्र को कन्या नहीं दी ! कौन हैं वे !'

'यह बात रहने दीजिये श्रीअधिकारीजी, मैं अब चलूँगा बिदा दीजिए।'—अत्यन्त कोमल स्वर में पार्थ ने प्रार्थना की।

'आप क्या सारे जीवन अविवाहित ही रहेंगे ?'—श्रीमती ओंकारनाथ ने दुबारा पूछा।

'हाँ माँ, उसे पाये बिना और कुछ उपाय नहीं। मैं सोच रहा हूँ; 'एकनिष्ठता में ही प्रेम की सार्थकता है—चाहे वह पुरुष हो या नारी ! जिसे प्रेम करता हूँ उसीको प्रेम करते हुए जीवन काट दूँगा !'

श्रीमती ओंकारनाथ ने स्नेह-पूर्वक फिर पूछा, 'उसके लिये कितने दिन प्रतीक्षा करोगे बेटा ? उसके पिता जब तुम्हें नहीं चाहते तब तुम किस आशा से....।'

'मैं करोड़ों जन्म तक प्रतीक्षा कर सकता हूँ माँ,—उसके अतिरिक्त मेरे गले में माला पहिनाने का अधिकार और किसी को नहीं—किन्तु अब मैं आज्ञा चाहता हूँ !'

पार्थ बाहर जा ही रहा था कि श्रीमती ओंकारनाथ के संकेत से उनकी कन्या धूप-छायादेवी पार्थ के सामने आ खड़ी हुई। बोली, 'अपने मित्र-सहित आज हमारे यहाँ भोजन करिएगा।' पार्थ ने समझा यह भी एक आफत है। प्रसून को वह इस भीड़ में नहीं लाना चाहता था। इसके अतिरिक्त माँ भी अकेले रह जायेंगी। बोला, 'मुझे कल माँ को काशी ले जाना है, व्यस्त हूँ।' गृहिणी ने कन्या के स्वर में योग-दान करते हुए कहा, 'दो घंटे के लिये आना, छाया का भी अनुग्रह है।' पार्थ बिना सम्मति दिए छुटकारा पाने का उपाय न देखकर 'अच्छा' कहकर बाहर चला आया।

सन्ध्या की विराट् सभा से पार्थ और प्रसून दोनों ही लौटकर विश्राम कर रहे थे—अभी वे सर ओंकारनाथ के यहाँ नहीं गए थे। प्रसून तो निमन्त्रण सुनकर बाकायदा नाराज-सा हो उठा था। माँ को दूध गरम कर पिला दिया गया था। माँ रात में और कुछ नहीं खाती थीं। प्रसून ने कहा, 'अनाकांक्षित निमन्त्रण ठीक अनाकांक्षित सन्तान के समान निरानन्द होता है। क्यों पार्थदा ? बराबर निमन्त्रण मिलेंगे किन्तु हृदय से इच्छा नहीं होती स्वीकार करने की। भद्रता का 'पनिशमेन्ट' है ! दण्ड।'

'सन्तान अनाकांक्षित क्यों प्रसून ?' पार्थ ने हँसकर कहा।

'अनेक दुर्बल बच्चे होने से बुरा नहीं लगता क्या ?'

'किन्तु प्रसून, महर्षि देवेन्द्रनाथ के यदि सप्तम पुत्र न होता तो कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ कहाँ से आते। उनके आने में बहुत देरी होती। कारण, रवीन्द्र जीवन·····ऐसे माँ बाप और ऐसे वातावरण को छोड़कर नहीं गढ़ा जा सकता था। सन्तान सर्वदा आकांक्षित

होती है—वह मनुष्य की सम्पत्ति है।'

'तो क्या आप बर्थ-कन्ट्रोल की जरूरत नहीं समझते?' सविस्मय पार्थ और प्रसून ने देखा कि दरवाजे पर न जाने कब से सर ओंकारनाथ की गाड़ी आकर खड़ी हुई है और उससे उतरकर धूपछाया देवी ने यह प्रश्न किया था।

'आइए, आइए! छाया देवी। आप तो खूब निःशब्द चली आईं?' पार्थ ने हँसकर कहा प्रसून और पार्थ दोनों ही, नव-परिचित एक तरुणी के साथ बर्थ-कन्ट्रोल पर विवाद करने में कुछ संकुचित हो रहे थे।

धूपछाया ने कहा, 'मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं मिला अभी पार्थ बाबू!'

अत्यन्त कोमल स्वर में पार्थ ने कहा, 'संयतेन्द्रिय नर-नारियों को सन्तति-निग्रह की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। जो कुछ है भी, आर्य शास्त्रकारों ने उसका निर्देश कर दिया है। किन्तु आपका प्रश्न तो दूसरी ओर जा रहा है। सन्तति-निग्रह करना और उत्पन्न संतान को अनचाही मानना एक बात नहीं है। जो आ गया है, आप उसे नहीं रोक सकतीं; पहले से सावधान होने की बात ही दूसरी है।'

'उसका क्या उत्तर देंगे आप?' धूप-छाया ने पूछा। पार्थ की इच्छा न की कि वह इस विषय पर बातचीत करे किन्तु वह निरुपाय हो गया। धीरे से बोला, 'अपनी-अपनी शक्तिनुसार सन्तति-निग्रह को मैं दोष नहीं कहता, किन्तु शक्ति-वृद्धि की चेष्टा न करके देशकी समृद्धि का भाण्डार-स्वास्थ्य भाण्डार-पूर्ण करने का प्रयत्न न करना ही अनिष्टकर है, इसलिये संयम-हीन सन्तति-निग्रह करो, यह कहने को मैं बाध्य नहीं। हमें शक्ति की वृद्धि करनी चाहिये। अन्यथा सन्तति निग्रह की तुलना में किसी गरीब

द्वारा सागभाजी खाकर जिन्दा रहने के साथ करूँगा और कहूँगा कि वह जीवन-युद्ध में हारा जा रहा है। उसमें कुछ गर्व की बात नहीं, वह तो भीरु व्यक्ति की 'आत्म-समर्पण करने की हास्यास्पद युक्ति है, इसके अतिरिक्त अबाध जन्म-नियन्त्रण का कुफल तो समाचार-पत्रों में नित्य ही देखती हैं आप। उसका कौन मनुष्य समर्थन करेगा।

कितने ही पाश्चात्य विद्वान् उसका समर्थन करते हैं—यद्यपि उन्हें धन का अभाव नहीं है। अनाचार का भी अभाव नहीं है; दूसरे उनकी समाज-व्यवस्था भी दूसरे प्रकार की है। पितृ-मातृ-परिचय-हीन सन्तान के लिये उनके यहाँ पर्याप्त व्यवस्था है; उस सन्तान को वहाँ राजकीय सम्पदा माना जाता है; वह समस्त सन्तान वहाँ अनिच्छित नहीं मानी जाती। साम्राज्य उसका रक्षक रहता है। और यहाँ कोई ऐसी व्यवस्था नहीं इसलिये भ्रूण-हत्या या गर्भ-पात द्वारा देश की अनेक स्त्रियाँ कलंकित की जाती हैं। यदि संयम-हीन जन्म-नियन्त्रण पूर्णतया सफल हो जायगा तो व्यभिचार और भी बढ़ सकता है!'

पार्थ और प्रसून धूपछाया के साथ उसके घर जाने को उठ खड़े हुए। गाड़ी में बैठकर धूपछाया ने कहा, 'व्यभिचार कहने से आपका क्या अभिप्राय है?'

पार्थ चुप बैठा है यह देखकर धूपछाया इस्तस्ततः करने लगी। पार्थ ने हँसकर कहा, 'मनुष्य की असंयत भोग-वृत्ति को ही मैं 'व्यभिचार' बोलता हूँ, जो मानव के मन की अत्यन्त विकृत दशा है।'

गाड़ी सर ओंकारनाथ के घर आ पहुँची। उतर कर वे लोग आसन पर बैठ गये। मिस्टर एवं मिसेज् ओंकारनाथ अत्यन्त यत्न-पूर्वक दोनों को भोजन कराने लगे। और सब लोग भी साथ-

साथ खाने बैठ गये। कुण्ठाहीन और दुःसाहसी छाया ने खाते-खाते दुबारा पूछा, 'असभ्य और सभ्य-समाज में 'सेक्स' हमेशा से एक समस्या बना रहा है; संसार के जीव-जन्तुओं की चरम क्षुधा है भूख और वासना, इसे आप 'व्यभिचार' कैसे कहते हैं पार्थ बाबू।'

पार्थ चुप रहा। इस प्रकार के प्रश्न एक युवक से यह सद्यपरिचित युवती क्यों किए चली जा रही है, वह सोच रहा था? यही आधुनिक समाज है क्या? श्रीओंकारनाथ तो पूर्णतया भक्तिपन्थी मालूम पड़ते हैं!

श्रीमती ओंकारनाथ ने कहा, 'धूपछाया क्या पूछ रही है बेटा तुमसे।' पार्थ समझ गया, धूपछाया की इस शिक्षा का कारण है श्रीमती ओंकारनाथ की विदेशी समाज-भक्ति। पार्थ ने सावधानता के साथ भद्रभाव में उत्तर दिया, 'यदि मान भी लिया जाय कि दोनों क्षुधायें ही प्राणियों की प्रधान-तम प्रवृत्तियाँ हैं, तब भी मनुष्य को इन प्राणियों से अलग करना पड़ेगा। अन्यथा मनुष्य आदिम उद्भिज अथवा अण्डज अवस्था में ही क्यों न रहा? वह एक-कोष-जीवन बना रहकर भी अपनी इन दोनों वृत्तियों को चरितार्थ कर सकता था। क्यों वह इस विवर्तन के बीच में से गुजर कर ज्ञान-विज्ञान में पृथ्वी के अन्य समस्त प्राणियों को पीछे छोड़ गया। क्या उसकी यह लाखों वर्षों की यात्रा, महामानवता की वैजयन्ती की ओर प्रगति होने का संकेत नहीं करती? ऐमिबा से लेकर जो जीव मनुष्य कोटि तक आ पहुँचा, क्या वह महामानव के विवर्तन में नहीं आवेगा? आप लोगों का वैज्ञानिक सत्य यदि एक कोष जीव से कोटि-कोष विशिष्ट जीव की परिणति स्वीकार कर सकता है तो इसके बाद का विज्ञान, बहु सहस्र-कोटि-कोष-युक्त अति मानव के आविर्भाव को क्यों न

मानेगा? और उस महामानव की भी ये ही प्रधान वृत्तियाँ होंगी, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं।'

कुछ ठहर कर पार्थ ने दुबारा कहा—'सभ्य मनुष्य अन्य विषयों में जन्तु जानवर के समान तो आचरण नहीं करता, केवल क्षुधा और जीवन-क्रिया में वह अभी तक अपने को दूसरे जानवरों से अलग नहीं कर सका; किन्तु चिरकाल तक भी वह ऐसा नहीं कर सकेगा, यह मानने का कोई कारण है क्या? क्षुधा और जनन-क्रिया को भी उसने दूसरे जीवों की अपेक्षा हजारों गुनी संमार्जित कर लिया है—एकदम भिन्न बनाने की शक्ति भी उसे किसी न किसी दिन मिलेगी ही; इसका प्रमाण प्रत्येक युग के मानव ने दिया है। मनुष्य अनिवार्य गति से महामानवता के राज्य की ओर बढ़ा जा रहा है, बीच में यह जो रुकावट देखते हैं, जो अधःपतन देखते हैं वह और कुछ नहीं है, केवल पूर्ण वेग से आगे बढ़ने की तय्यारी है।'

श्रीओंकारनाथ विस्मय-मुग्ध होकर पार्थ की ओर ताक रहे थे। कुछ ठहरकर उन्होंने प्रश्न किया, 'तुम कहना चाहते हो कि पृथ्वी के समस्त मनुष्य महा-मानव बन जायेंगे।'

'सब मनुष्य नहीं होंगे, जैसे ऍमिबा का एक अंश मनुष्य हो गया, वैसे ही मनुष्य का एक अंश=बृहत्तर एक अंश—महा-मानव हो जायगा और आजका मनुष्य उनके सामने ऐसे ही रहेगा जैसे आज हमारे पास असभ्य मनुष्य रहते हैं।'

'किन्तु ऍमिबा ने तो कोई साधना नहीं की, स्वयं ही इस विवर्तन में से गुजर कर मनुष्य बन गया।'

'नहीं साधना की है। जल-चर जीव को स्थल पर आने के लिये बहु-युग-व्यापी साधना करनी पड़ी, वन-मानुष को मनुष्य बनने की साधना करनी पड़ी, यह प्रकृति ने ही की। आज उनका

मन अपरिणत है शायद इस कारण वह इस साधना का इतिहास भूल गये हैं किन्तु मननशील मनुष्य ने अपनी साधना को उन लोगों से अलग कर लिया है। वह जल्दी से अग्रसर भी होगा। उन्हें चिन्ता-शक्ति देकर शायद प्रकृति ने ही यह निर्देश किया।'

खाना समाप्त हो गया। धूपछाया देवी इस वैज्ञानिक युक्ति को कितना समझ पाईं, यह नहीं मालूम हो सका। आने के समय पार्थ से मृदु स्वर में कहा, 'आपकी बातें सचमुच युक्ति पूर्ण हैं और इतनी मधुर हैं...'

पार्थ थोड़ा सा हँसकर गाड़ी पर बैठकर चल दिया। दूसरे दिन सुबह उसे माँ को लेकर काशी जाना था।

२५

'भारतीय महिला-मंडल' के विषय में प्रवीर एक संवाद के कार्यालय में एक समाचारपत्र पढ़ रहा था। इसी समय हँसती हुई सिप्रा और मालती प्रवीर के कमरे में प्रविष्ट हुईं। प्रवीर ने समाचार-पत्र सिप्रा की आँखों के सामने रखकर कहा, 'क्या बात है देवी, किस बात का आयोजन है यह।'

'महिलाओं के उद्‌बोधन के लिए। आप मालती को ठीक समय पर पहुँचा दीजिएगा, मैं उसे यहाँ पहुँचा जाऊँगी, अब चली।'

प्रवीर को प्रणाम करके सिप्रा चली गई।

शामको जब प्रवीर मालती को पहुँचाने गया तो देखा कि जार्जेट की साड़ी पहिनें झूमका झुलाती हुईं बहुत सी मॉडर्न गर्ल्स् हॉल में घुस रही हैं। प्रवीर यह देखकर घर लौट आया।

दो तीन सौ स्त्रियाँ उपस्थित थीं। सब झकाझक अपटूडेट ड्रेस पहिने थी। केवल अशोका ही एक गेरुआ साड़ी पहिने हँस हँस कर सबका स्वागत कर रही थी। मालती ने भी उसी का

साथ दिया था। सभानेत्री सिप्रा अब भी नहीं आयी थी सभा के उद्देश्यके सम्बन्ध में किसीको कुछ पता न था। सिप्रा आ पहुँची। वह एक दम एक सफेद कोरी साड़ी पहिन कर आई थी। उसके बाल अब भी भीगे-से थे। हाथों में सिर्फ दो सोने की चूड़ियों के सिवाय कोई गहना नहीं था। उसको देखकर सभी चकित हो गये।

अशोका सभा का उद्देश्य निवेदन करने को उठी और बोली, 'बहिनो, आज हमलोग इस सभा में भारतीय नारी को स्वजाति धर्म में प्रतिष्ठित करने के लिये विचार करना चाहती हैं। भारत की नारी ने प्रायः स्वधर्म छोड़ दिया है, वह नारी धर्म को भूल गई हैं; अब भी सावधान न होने पर भारतीय नारी का गौरव-चन्द्रिमा राहु-ग्रस्त हो जायगी। क्यों और कहाँ वे भूल कर रही हैं, यही हमारी सभानेत्री सिप्रादेवी कहेंगी।'

सिप्रा उठ खड़ी हुई, मेरी सम्मानित बहनों, मैं निःसंकोच अपना अभिप्राय आपके सम्मुख व्यक्त करना चाहती हूँ, अतः आप ध्यानपूर्वक सुनें—

'पुरुष हमेशा से नारी को ठगता आरहा है। आज भी ठग रहा है। नारी के प्रेम योग्य न बनकर और अपने पौरुष और बल-वीर्य की वृद्धि के बिना ही अवहेलना द्वारा नारी को प्राप्त करने के लिए वह लालायित है। इसीलिए उसने एक ऐसा कुशल तरीका निकाला है कि हम लोग सोचती हैं, पुरुष हमें स्वाधीनता दे रहा है किन्तु स्वाधीनता देना तो दूर रहा जो कुछ हमारी प्राचीन स्वाधीनता थी, उसको भी छीने ले रहा है और उन लोगों की इस कूटनति को न समझकर हमलोग समझती हैं कि हम स्वाधीन हो रही हैं। आज हम अपने पुरुष मित्रों के साथ पढ़ती हैं घूमती हैं, गप-शप करती हैं, उनको अच्छा लगे इसलिये जितने भी तरीके

हो सकते हैं, सबको प्रयोग कर देह को सजाती हैं नित नए फैशनों की नकल करती हैं सिर्फ इसलिए किसी न किसी प्रकार पुरुषों को रिझा सकें। क्या नहीं करतीं हम लोग। नारी चिरकाल से पुरुष की इच्छायें पूरी करती आ रही हैं; आज भी उसीकी साध मिटाती रहती हैं—कहाँ है वे स्वाधीन ? जब हमारी माँ और दादी घर ही में रहती थीं, तब कम से कम वे अपने घर में तो पूर्ण स्वाधीन थीं। वहाँ किसी भी पुरुष का हस्तक्षेप नहीं चलता था। अधिकार जताने की योग्यता उपार्जित करनी पड़ती थी। उस दिन नारी उनके लिए एक दुर्लभ सामग्री थी इसीलिए शब्दकोष के समस्त विशेषणों को प्रयोग करके भी वे नारीके गुण—गरिमा गाने से नहीं अघाते थे। आज भी यह चापलूसी की जाती है, पर दूसरे मतलब से।

'आज दुर्लभ नारी को अत्यन्त सहजलभ्या बनाने के लिए उन्होंने कैसा छलना—जाल बिछाया है, आप लोग सोचकर देखिए उन्होंने हमें मिथ्या स्वाधीनता का ढोंग दिखाकर अपनी विलास-मयी रङ्ग-शाला में बन्दिनी बना रखा है। आज वही नारी इतनी सस्ती हो गई है कि विलासी माँस-लोलुप मनुष्य नारी की तुलना माँस-पिण्ड से करने लगे हैं। वे नारी के नारीत्वका सम्मान नहीं करते। वे उसके सतीत्व में सन्देह करते है। परिणाम यह है कि बड़े शहरों में तो अत्यन्त आधुनिक धनी घरों की दो चार अवि-वाहिता कन्याएँ केवल सिनेमा और क्लबों में अपने उच्छृङ्खल युवक-मित्रों के साथ घूमती फिरती हैं। उनकी दुर्गति की चिन्ता कोई नहीं करता। नारी इसको क्यों नहीं समझती; यह मैं नहीं जान पाती। आज भी वे पुरुष की होड़ करने के लिए समानाधिकार चाहती है। इसमें पुरुषों को सुविधा ही होती है, घर, बाहर, आफिस भ्रमण-यात्रा यहाँ तक कि युद्ध में भी वह

नारी का अबाधित साहचर्य पाता है। क्रमशः युग-युगान्तर से परम्परा प्राप्त नारी स्नेह और मातृ-श्रद्धा पुरुष के हृदय से हटती जा रही हैं। इस समय पुरुष उसे सिर्फ विलास-सङ्गिनी बनाना चाहता है, वह उसे हृदय की सहचरी बनाने में झिझकता है। मूर्ख नारी पुरुष के इस फन्दे में पैर देकर धीरे-धीरे पुरुष के मन के विस्मृत-सागर में डूबी जा रही है। स्वाधीनता के नाम पर पुरुष ने उसे दुःसह यंत्रणा के कारागार में डाल दिया है। शीघ्र ही नारी को उससे मुक्ति पाने का उपाय करना चाहिये, अन्यथा वह अपना जन्म-गत वैशिष्ट्य—पुरुष-मन को शक्तिशाली बनाने की क्षमता खो बैठेंगीं।

'आज पुरुष नारी को सती-साध्वी मानकर विश्वास नहीं करता। विवाहित स्त्री को पूर्ण स्वाधीनता देकर वह दूसरी स्त्रियों साथ घूमना पसन्द करता है। उसकी पत्नी उसे नहीं सँभाल पाती, कारण वह उसे प्रेम नहीं करता। स्नेह के नाम पर वह पत्नी पर दया करता है, पत्नी का उस पर कुछ भी अधिकार नहीं रहता। दाम्पत्य–जीवन की शान्ति और पवित्रता नष्ट हो जाती है, और अशान्त और अपवित्र संस्कारों के साथ जो बालक जन्म लेते है, वे भी वातावरण के दुष्प्रभाव के कारण सबल, दृढ़चरित्र और निष्ठावान् नहीं बन पाते। इस विनाश को रोकना ही चाहिये। बहिनों, बोलिये आप क्या करना चाहती हैं ?'

सबने सिप्रा की बातें आश्चर्य के साथ सुनीं। आधुनिक नारी के इस पहलू पर तो उन्होंने कभी नहीं सोचा था। किन्तु उपाय क्या है। इस समय वे कैसे सुधरें ? उन लोगों ने सिप्रा से ही उपाय बताने को अनुरोध किया।

सिप्रा बोली, 'हम लोग इस 'भारतीय महिला-मंडल' को स्थापित करते हैं। इसकी प्रत्येक सदस्या यह प्रतिज्ञा करेगी कि

वह शिक्षा, दीक्षा, घर का काम-काज सभी में, सब प्रकार के नारी-धर्म में अपनी सामर्थ्यानुसार उत्कृष्ट साधन व्यवहृत करेंगी। पुरुष के चरित्र-माधुर्य और दृढ़ता के सम्बन्ध में पूर्ण-ज्ञान किए बिना वह किसी पुरुष के साथ अबाध गति से नहीं मिलेंगी और सब प्रकार से वह नारी और पुरुष के आन्तरिक प्रेम की रक्षा करेंगी। नारी-नारी है, वह पुरुष क्यों बने अपना वैशिष्ट्य खोकर ? दुनिया के सब पुरुषों को अच्छा लगे, इसीलिये वह क्यों अपना बनाव सिंगार करे—यह पुरुष के नेत्रों का दासत्व—वही क्यों करे ? पुरुष यदि उसका सौंदर्य देखना चाहता है तो वह पहले अपने को चरित्रवान् बनाये, अपनी रुचि में परिवर्तन करे और दृढ़ता उत्पन्न करे। नारी को अकेली देखकर वह अपहरण करना छोड़े—वह मनुष्य बने, नारी का सम्मान करना सीखे; तभी नारी उसे स्नेह करेगी—प्रेम दान देगी।

'पुरुष नारी से एक-निष्ठ प्रेम चाहता है। किन्तु नारी को भी तो एक-निष्ठ प्रेम मिलना चाहिये नहीं तो पुरुष एक-निष्ठ पत्नी नहीं पा सकता। आज हम लोगों की जागृति का समय आगया है। हम लोग भारत के विकृत नारी-समाज और पुरुष-जाति का पुनर्गठन तथा नूतन—निर्माण करना चाहती हैं।'

कर-ध्वनि के साथ बहुत सी नारियों ने सिप्रा के भारतीय महिला-मंडल में योग दिया।

सिप्रा और अशोका, जब मालती को पहुँचाने आईं तो उन्होंने प्रवीर से सब कहा। प्रवीर ने कुछ देर बाद उनकी ओर विस्मित दृष्टि से ताककर कहा, 'यदि आप लोग यह कामकर सकें तो पृथ्वी की समस्त संपत्तियाँ आपके चरणों में लोटने लगेगीं।'

अशोका में प्रवीर के मुख की ओर हँसकर देखा, और

कहा, 'इससे किसकी सम्पत्ति बढ़ेगी प्रवीर बाबू—आपकी या पार्थ बाबू की ?'

लज्जित होकर प्रवीर ने हँसते हुए कहा, 'स्वदेश की।'

२६

श्री ओंकारनाथ के लड़के हिमाद्रि अधिकारी विलायत से 'बार एट्-ला' बनकर लौटे तो रास्ते में श्रीगिरीशके यहाँ ठहरे। उनका यहाँ ठहरने का उद्देश्य कलकत्ता के कुलीन समाज में परिचय प्राप्त करना था। श्रीगिरीश का उद्देश्य था कि देवश्री की मुलाकात मि० अधिकारी से करा दी जाय। मि० अधिकारी उसके योग्य पात्र थे।

संध्या समय नहाँ धोकर, जहाँ तक सम्भव हो सका देहलता को सजाकर चित्रा गोस्वामी के प्रासाद में आई। सर गोस्वामी बारामदे में बैठकर मि० अधिकारी के साथ गप-शप कर रहे थे। चित्रा को देखकर बोले, आओ बेटी, तुम्हारी ही बातें हो रही थीं। मैं कह रहा था कि यदि यह लड़की न होती तो मैं देवश्री को वापस न पाता।'

मैंने ऐसा क्या किया मिस्टर गोस्वामी। अपना कर्तव्य किया है केवल!'—बड़े ढंग से चित्रा ने मि० अधिकारी को नमस्कार कर कहा। मि० अधिकारी ने पास की कुर्सी दिखाकर चित्रा से बैठने का अनुरोध किया। चित्रा ने कहा, खूब! 'अच्छा अनुभव कर रहे हैं न?

'यात्रा में कोई कष्ट तो नहीं हुआ?'

'नहीं—नहीं—कुछ नहीं—इसके अतिरिक्त यहाँ तो घर के समान ही—'कम्फर्टेबल' हूँ।' कहा श्री अधिकारी ने।

'मिस गोस्वामी नहीं आयी शायद?' चित्रा ने पूछा।

'नहीं, उनकी तबीयत ठीक नहीं। ये अकेले थे इसलिए मैं

बैठा हूँ, अब तुम इनके साथ बातें करो, मुझे कुछ काम है।'— कहकर श्री गोस्वामी उठे और भीतर चले गये।

चित्रा भी यही चाहती थी। दूसी की बीमारी की खबर बनाई हुई थी, यह भी जानती ही थी वह। भला नवागत अतिथि को यह कैसे बताया जा सकता है कि दूसी किसी के साथ भी नहीं मिलती। चित्रा ने मन ही मन बातें गढ़ लीं। बोली, 'आप तो विलायत से आये हैं, आपके साथ क्या बातें करूँ मैं? मैं क्या जानती हूँ?'

'आपतो शिष्टाचार कर रही हैं। ऑलराइट्—मैं ही एक कहानी कहता हूँ, एक समय एक बाघ के गले में एक हाड़ अटक गया....'

हिः हिः कर चित्रा हँसती हुई बोली, 'अच्छा तो देशी कहानियाँ याद हैं अभी आपको? धन्यवाद!'

'किसकी ओर से। आपकी ओर से या मातृ-भाषा की ओर से।'

'दोनों की ओर से किन्तु मातृ-भाषा की पुस्तकें आप पढ़ते हैं क्या?' चित्रा को डर लग रहा था, कि वह पार्थ के विषय में कुछ जानता है क्या।

'नॉन्सेन्स! मातृ-भाषा की पुस्तकों में है क्या! मैं तो उसकी लिपि भी प्रायः भूल गया हूँ, भाषा नहीं भूला हूँ। भूलने की चेष्टा में हूँ।'

'भूल जाइये; आपका व्यवसाय तो अंग्रेजी में ही चलेगा न अभी।' चित्रा ने उसकी ही पुष्टि की।

'ठीक कहा आपने! मुझे तो अँग्रेजी में ही काम करना पड़ेगा अभी। बट् आई थिंक अवर लैंग्वेज् मस्ट इम्प्रूव; हमारे साहित्यिकों ने क्या किया अब तक?'

'कुछ नहीं—वे केवल कहानी लिखने और कहने की भाषा को बना के पाये।'

'ह्वाट् डू यू मीन! क्या कहानी के योग्य भाषा नहीं थी हमारी ?'

'थी, 'कस्यचित् पत्र मिदं'''समझे कुछ ?'

'यह तो मृत भाषा संस्कृत है ?'

चित्रा खिलखिलाकर हँस पड़ी, 'नहीं हमारे आपके बाबा-परबाबा की भाषा है यह।'

बात-चीत जमी नहीं। चित्रा का मन टूसी की भविष्य—चिन्ता में पड़ा था। मि० अधिकारी ने टूसी को पसन्द कर लिया तो ? तब तो बड़ी मुश्किल होगी। बोली, 'बिलायत में आपकी कितनी महिलाओं से मित्रता थी मि० अधिकारी ?'

'वहाँ तो लड़कों की मित्रता लड़कियों से ही अधिक होती है।'

बहुत कुछ झूठ था; चित्रा जानती थी। किन्तु प्रतिवाद न कर बोली, 'किसी को पसन्द नहीं किया ? या चुपचाप शादी भी कर आये है ?'

'नहीं—शादी कर नहीं पाया। माई फादर इज ए भक्त! ऐसा करता तो घर वापस नहीं लौट सकता था। किन्तु यहाँ तो बहुत सी 'मॉडर्न गर्ल्स' हैं, उन्हींमें से एक चुन लूँगा; क्या राय है ?'

'खोजने से क्या नहीं पाया जा—सकता मि० अधिकारी ? फिर भी आप कैसी चाहते हैं, बताने से ही मैं कुछ न कुछ चेष्टा करती।

'कहूँगा आप ही से कहूँगा, ह्वेन वी० शैल बी ऐलोन।'

'अकेले ही तो है कोई नहीं है कहिए तो कैसी चाहिए।'

मि० अधिकारी चुप रह गये। चित्रा उनके मन की पसन्द

अच्छी तरह जान लेना चाहती थी जिससे कि वह अपने को वैसा ही बना सके।

श्रीगोस्वामी लौट आए। बोले, 'घूमने जाना चाहें तो घूम आइये न चित्रा के साथ—जाओ बेटी चित्रा, देवश्री को तो बुखार है, वह नहीं जा सकेगी।'

'मि० अधिकारी के साथ चित्रा घूमने चली गई। सर गोस्वामी सोचने लगे कि उनकी भाग्य—हीन लड़की किसी तरह बाहर नहीं आई और चित्रा कैसा रंग जमाये ले रही थी, मि० अधिकारी के ऊपर।

उन्होंने श्रीमती गोस्वामी को बुलाकर कहा, 'परसों डायमन्ड हारबर के बाग के मकान में मि० अधिकारी के सम्मान में पार्टी देनी है। देवश्री को उस दिन वे मि० अधिकारी के सामने अवश्य उपस्थित कर दें।' श्रीमती गोस्वामी चुप रहीं।

२७

अशोका अपने भाग्य-रहस्य पर सोच रही थी। शचीन की शादी करने की असम्मति प्रकट करने से उसने तभी से आना छोड़ दिया था—अब किसलिये आये वह! जिन सब अत्याधुनिक साहित्यिकों के साथ अशोका की बहुत दिनों की जान-पहिचान थी, उन सबको अशोका ने बिदा कर दिया था। इस समय वह अकेली ही थी, एकमात्र सिप्रा आती थी कभी-कभी उसके पास। वह भी अपनी 'भारतीय महिला-मंडल' लेकर ही व्यस्त रहती थी। मानों सिप्रा के अन्दर युग-संचित आग भरी थी। पार्थ के प्रति प्रेम के पत्थर से आहत होकर वही आग जल उठी थी, उसको बुझाया नहीं जा सकता था। सिप्रा शायद सारा जीवन इस संस्था के संगठन में ही लगाना चाहती थी। सिप्रा अद्भुत

लड़की थी, जो कुछ करती थी, उसे चरमावस्था तक पहुँचाकर ही छोड़ती थी। अशोका भारतीय महिला-मंडल की सेक्रेटरी थी, किन्तु उसके भाई की इच्छा न थी कि अशोका यही सब करती हुई घूमती रहे।

बेयरा ने आकर कहा, 'प्रसून बाबू आये हैं।'

अशोका उठकर नीचे आई। नमस्कार कर प्रसून ने कहा, 'कैसी हो अशोका दीदी!'

उसके 'दीदी' के सम्बोधन से अशोका खुश हो गई। वह हँसकर बोली, 'इतने दिनों बाद ठीक भाई का गौरव लेकर ही लौटे हो। आज मुझे तुम बहुत अच्छे लग रहे हो—आओ!'

अशोका ने भी प्रसून को एकदम 'तुम' कहकर पुकारना शुरू कर दिया। प्रसून आनन्द से सिहर उठा। लड़कियों के पास से केवल प्रणय-प्राप्ति ही मिष्ट नहीं, भगिनीत्व वा सच्चा सखीत्व भी खूब मिष्ट होता है यदि प्राण-मन से यह सम्बन्ध मान लिया जाय। वैज्ञानिक शायद इसके बीच में भी 'सेक्स' ढूँढ़ निकालेंगे; किन्तु समाज-गत मनुष्य का उसके कुछ बनता बिगड़ता नहीं, क्योंकि प्रेम हृदय की उच्चतम प्रवृत्ति है। प्रसून ने बैठते ही कहा, "पार्थदा माँ को लेकर लौट आये हैं; आप मिलने नहीं गईं अशोका दीदी! माँ बहुत बीमार हैं। अपनी टूसी के लिये उन्होंने खाट पकड़ ली है अब।'

'जाऊँगी भाई, आज ही जाऊँगी पार्थ बाबू अच्छे तो हैं?'

'हाँ; सिप्रा दीदी का क्या हाल है? वे कल पार्थदा के पास गई थीं किन्तु मैं वहाँ नहीं था उस समय। सुना है आप लोगों ने भारतीय महिला-मंडल संगठित किया है।'

'हाँ, किन्तु कहाँ तक काम होगा, यह कुछ नहीं कहा जा सकता—नारियों का आदर्श तो युग-युग और देश-देश में परि-

वर्तित होता रहा है। तुम अपने मत से क्या उसकी कोई परिभाषा कर सकते हो ?'

'एक-निष्ठता ही भारतीय नारी के सतीत्व का आदर्श रहा है, अशोका दीदी ! पार्थ का मत इस विषय में इतना दृढ़ है कि कभी कभी हम लोग चौंक पड़ते हैं। वे कहते हैं कि—'मनुष्य ने जब मनोरूप अमृत-सागर प्राप्त कर लिया हो तो उसमें वह एक ही ऐसा मीन रखेगा जिसके संचालन में सुसंबद्ध तरङ्ग-लहरी झंकृत हो उठे। बहुत से मीन वहाँ वास करेंगे तो मन की तरंगे परस्पर आघातों से टूट जायेंगी। जीवन का गान स्वर-पूर्ण नहीं होगा और उससे मानस-पुत्र महामानव का आविर्भाव होनेमें बहुत देर लगेगी।'

'किन्तु पृथ्वी के अन्यत्र—सब देशों में ही…।'

'हाँ—सभी देशों में सतीत्व का यह आदर्श शायद नहीं है; उसका यही कारण है कि भारत ही भावी महामानव की जन्मभूमि है। पहले शायद भारत में भी सतीत्व का यह आदर्श नहीं था। किन्तु भारत ने जब जान लिया कि इस एकनिष्ठता का कितना बड़ा मूल्य है तब उसने राम के समान स्वामी और सीता के समान पत्नी के आदर्श को लेकर समाज में मर्यादा स्थापित की। इसके बाद बहुत से विप्लवों के कारण हम इस आदर्श से वञ्चित हो गये और आज भी हैं, किन्तु इससे सत्य आदर्श की ज्योति म्लान नहीं हुई। और हम लोग आदर्श-च्युत हैं इसलिए अभी तक महामानव का जन्म नहीं हुआ। महामानव के अवतार में जो विलम्ब हो रहा है हम लोगों को उसे कम करना चाहिये। पार्थदा इसीका प्रचार कर रहे हैं।'

अशोका के मन में जैसे कुछ प्रकाश हो गया। बातें करते-करते उसने पूछा, 'पार्थ बाबू तब निश्चय ही विवाह नहीं करेंगे।'

'नहीं, इस विषय में उनकी माँ भी एक मत में हैं। माँ ने उससे कह दिया है "तुझे जैसे मैंने गढ़ा है बेटा, वैसे तू एक जीवन तो दूसी के लिये काट ही सकता है?" क्या कहता है? —उत्तर में पार्थदा ने कहा—"तुम्हारे आशीर्वाद से कोटि-कोटि जन्म काट दूँगा, माँ।" अशोका ने अकस्मात् प्रश्न किया, 'जन्मान्तर क्या सचमुच होता है प्रसून? तुम्हारा क्या मत है?'

'क्या जानूँ किन्तु पार्थदा कहते हैं 'नहीं भी हो तो उससे क्या अपने शरीर मन का अंश तो सन्तान के बीच में रख दे सकते हैं, वही हमारा जन्मान्तर है। हमारी ही अर्जित सम्पत्ति को जब हमारे ही शरीर का एक अंश भोग करेगा, तो क्या वह हमारा भोग नहीं होगा। यद्यपि वह अंश हमारे इस शरीर की बात भूल जायगा, तथापि उसके रक्त में बहुत से पूर्व-पुरुषों की जीवन—कहानी सुप्त रहेंगी, यह क्या जन्मान्तर नहीं है?'

अशोका कुछ-कुछ प्रसून की बातें समझती जा रही थी। किन्तु उसने प्रसून को अभी तक कुछ खाना नहीं दिया था, यद्यपि अशोका के जीवन में आज प्रसून ने एक मधुर आत्मीयता बना ली थी। मुस्कराकर कहा उसने, 'तुम बैठो प्रसून, मैं कुछ खाना ले आऊँ। दीदी के यहाँ से बिना खाये नहीं जाना चाहिये।'—प्रसून सिर नीचा कर हँसने लगा। अशोका खाना लाने गई। चित्रा ने कमरे में प्रवेश किया। प्रसून क्रोध के कारण आपाद-मस्तक उत्तप्त हो उठा। यह क्यों आई—यहाँ इस समय। किन्तु, क्रोध दिखानेसे भद्रता नहीं होगी—प्रसून ने नीरव हास्य से चित्रा को नमस्ते की।

'क्यों प्रसून बाबू, सुना है खूब समारोह करके आये हैं आप लोग।'

'समारोह मेरा नहीं है देवी, पार्थदा का है। मैं उनका शिष्य

अवश्य हूँ, अतः मेरा भी कुछ उसमें प्राप्य हो गया है। आप कहाँ थीं अब तक ?'

'थी एक तरफ। पार्थ बाबू सुना है महात्मा बन गये हैं।'

'ऐसा तो कुछ नहीं कर रहे हैं, वे तो मनुष्य को महामानवता के योग्य बनाना चाहते हैं; आपने गलत सुना है।'

'नहीं, ठीक सुना है। किन्तु हम लोग तो यह सब समझ नहीं पाते महाशय; हम तो क्षुद्र नारी हैं। महा-मानव का महा-संगीत सुनने लायक कान नहीं है हमारे।'

अशोका जलपान अपने हाथ में ही ले आई। चित्रा ने देखते ही कहा, 'वाह! अपने हाथों द्वारा परिवेषण! प्रसून बाबू का भाग्य अच्छा है!'

'हाँ अच्छा है; खूब अच्छा है, क्यों अशोका दीदी?' प्रसून यह बोलते-बोलते खाने बैठ गया।

अशोका नीरव हास्य के साथ ताकती रही। उसकी भाव-भङ्गी बहुत स्निग्ध और मधुर थी। चित्रा का सारा अंग जल उठा। ढोंग की हद हो गई। चित्रा ने व्यङ्ग के साथ कहा, 'जान पड़ता है आजकल बहनें भाइयों के साथ ही 'मजाक' करती हैं। क्यों प्रसून बाबू?'

चित्रा के इस रूढ़ आघात से प्रसून या अशोका जरा भी विचलित नहीं हुए। प्रसून हँस उठा और बोला, 'जिनके मन में बहन बनने योग्य बल है; वे अवश्य ही यह कर सकती हैं, भाई को दूसरे किसी के भी हाथों से बचाने के लिये—ज्वर की औषध कडुई होती है, मीठे से मुख-शुद्धि उसके बाद की जाती है।'

चित्रा आहत होकर और भी क्रूर हो उठी। कुछ देर तक वह जवाब ही नहीं दे सकी किन्तु चित्रा चुप रहनेवाली लड़की नहीं थी। बोली, 'बड़ी खुशी हुई प्रसून बाबू, आपकी बहन इतनी

बड़ी डाक्टर हैं यह नहीं जानती थी, आपको कहीं बहुत अधिक फीस न देनी पड़े।'

'मुझे देने की सामर्थ्य है चित्रा देवी, और मैंने उसे 'दीदी' कहकर फीस दे भी दी है। इसके बाद जीवन भर 'भाई' बनकर उसकी फीस चुकाता रहूँगा।'

चित्रा ने मुँहकी खाई। किसी तरह भी इन पर शान नहीं जमा सकी। उसकी बात से दोनों में से एक भी विचलित नहीं हुआ। उसने इस बार बहुत तेज हथियार फेंका, 'आजकल के 'कजिन्स' के सम्बन्ध में, मैं बहुत कुछ जानती हूँ महाशय।' इस अभद्र इङ्गित से अशोका को भीषण क्रोध आ गया। उसका शान्त मुख झंझा से क्षुब्ध आकाश के समान क्रुद्ध हो गया। इतनी देर उसने एक भी बात नहीं कही। किन्तु सहन शक्ति की भी एक सीमा होती है। अशोका ने गंभीर स्वर से कहा, 'चित्रा, तुम मनुष्य का उसके घर जाकर अपमान करने की हिम्मत रखती हो, यह मैं नहीं जानती थी, किन्तु प्रसून को तुम्हारे पंजे से छुड़ाकर मैंने तुम्हें इतना क्रुद्ध कर दिया, यह मैं अनुमान भी नहीं कर सकी थी। सोचा था प्रसून के समान दुर्बल पुरुष मित्रों का तुम्हारे पास अभाव नहीं, तुम प्रसून को छोड़ सकती हो, किन्तु तुम तो सर्पिणी के समान फुँफकार रही हो चित्रा!'

चित्रा समझ गई कि अब और बात बोलने से झगड़ा हो जायगा, वह चुप रह गई। उसका काम अब भी सिद्ध नहीं हुआ था। अशोका के पास वह एक काम से आई थी, झगड़ा करने से सब काम मिट्टी हो जाता। चित्रा ने कुछ रुककर कहा, 'यह अच्छा ही है, आप लोग भाई-बहिन के समान स्नेह-बद्ध रहें; यह तो आनन्द की बात है!'

अशोका ने चित्रा से कुछ न कहकर प्रसून को एक और

सन्देश देकर कहा, 'नहीं खाने से डाँट खाओगे, समझे ? खाओ।'

'घर पर खाना ठीक न खाया तो उधर माँ चिल्लायेंगी; तुम लिख देना कि खिला दिया है।' अशोका ने हँसकर कहा, 'तुम कह देना कि दीदी ने खिलाया है। अच्छा, प्रसून, पार्थ बाबू का भोजन आदि आजकल कौन बनाता है; क्या पार्थ बाबू स्वयं ही पकाते हैं ?'

'नहीं, मालती हैं न वहाँ। पार्थ ने बहुत मना किया परन्तु माँ ने स्वयं सम्मति दी। बोलीं, 'पार्थ इतना दुर्बल क्यों बनता है बेटा, दूसी तो तेरे मन के आकाश में पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान ही वर्तमान है।'

चित्रा का मन अकस्मात् न जाने कैसे हाय-हाय कर उठा ! तो क्या पार्थ विवाह ही नहीं करेगा ? तब तो पार्थ से किसी को भी कोई आशा नहीं। चित्रा यह संवाद सुनकर खुश रहने की चेष्टा करने लगी थी किन्तु उसके हृदय की आन्तरिक आत्मा मानों उच्च स्वर से चीत्कार कर उठी। पार्थ का जीवन पंगु क्यों बना दिया उसने ! किन्तु दो चार मिनट बाद ही चित्रा पुनः चित्रा के ही समान निष्ठुर और निष्करुण हो उठी। खा-पीकर प्रसून उठकर जाने को तैयार हो गया, 'जा रहा हूँ मैं अब दीदी, एक बार प्रवीर भाई के यहाँ जाना है।'

'अच्छा भाई, आना।' अशोका ने हँसकर कहा। प्रसून धीरे-धीरे बाहर चला गया; चित्रा को नमस्कार तक नहीं किया।

इतनी देर बाद अशोका ने चित्रा से कहा, 'तुम्हारी क्या खबर है चित्रा; बहुत दिनों से आई नहीं !'

'समय नहीं मिला; कल सर गिरीश डायमण्ड हारबर के बाग में एक पार्टी दे रहे हैं। उन्होंने मुझे तुम्हारे लिये निमन्त्रण लेकर भेजा है। यह लो कार्ड !'

'मुझे पार्टियों में जाने को समय नहीं, मैं अपनी रचनाओं में ही व्यस्त रहती हूँ।'

'रचना तो उसके बाद भी करती रहोगी किन्तु श्रीओंकारनाथ के 'सुपुत्र' कल ही चले जायेंगे।'

'जायँ न; मुझे इससे क्या? उनके परिचय या सङ्गति की मुझे कोई भी इच्छा नहीं है!'

'मुझे है। तुम्हें मदद करनी पड़ेगी। तुम नहीं आओगी तो पार्टी जमेगी नहीं। सिप्रा को मैं बुलाना नहीं चाहती क्योंकि मेरी उससे बोलचाल नहीं है।'

'तुम अकेली ही सबको मात कर दोगी चित्रा, हो सके तो जरा अपना काम भी बना लेना।' चित्रा यह व्यङ्ग चुपचाप सह गई।

'किन्तु तुम्हें आना ही पड़ेगा, नहीं तो वह दूसी को बलपूर्वक मि० अधिकारी के सामने पकड़कर ले आयेंगे; मैं रोक नहीं सकूँगी उन्हें।' चित्रा ने अन्तिम अस्त्र दूसी को ही बनाया।

अशोका ने कुछ देर सोचकर कहा, 'अच्छा आऊँगी!'

❀ ❀ ❀ ❀

गंगा के किनारे ही सर गिरीश का विशाल उद्यान गृह था। गंगा की लहरें बाग के एक कोने को छूती थीं। वहाँ पर बने हुए धार के चौतरे पर बैठने के लिये एक सुदृश्य संगमर्मर की वेदी बनी थी। जिसके चारों ओर फूलों की क्यारियाँ लगी थीं। अतिथि एक दो नहीं थे। कलकत्ता के सभी गण्यमान्य, कुलीन व्यक्ति निमन्त्रित किए गये थे। उत्सव के आयोजन में एक नूतनता सी थी! सर ओंकार के सुपुत्र को केन्द्र कर दिन भर अनेक प्रकार से हास्य, गान और गपशप होती रही। लड़कियों ने तो उसे लेकर मानों एक बाजार ही लगा दिया था। दूसरे युवकों के दल इस एक युवक के सौभाग्य को देखकर ईर्ष्या से

जल मरते थे। किन्तु कोई उपाय नहीं था। चित्रा इस भोज-सभा की प्रधान महिला थीं श्रीगिरीश उसको अत्यन्त स्नेह करने लगे थे।

टूसी (देवश्री) को किसी प्रकार से यहाँ लाकर बाग के मकान की ऊपर की मंजिल में बिठा दिया गया था। वह बहुत अस्वस्थ थी, किसी तरह पार्टी में योग नहीं दे सकती थी। किन्तु सन्ध्या समय सब अतिथियों ने आग्रह किया कि वे श्रीगिरीश की कन्या के देखने को अत्यन्त उत्सुक हैं और यदि वे यहाँ नहीं आ सकतीं, वे सब उन्हें ऊपर ही देख आयेंगे। सर गिरीश पर एक मुसीबत आई। बहुत चेष्टायें करने पर भी वे देवश्री को नीचे नहीं ला सके। उनकी गृहिणी ने भी कन्या का ही साथ दिया था। श्रीगिरीश ने सोचा यह पार्टी व्यर्थ दी। किन्तु यह सब न करने से मि० अधिकारी का सम्मान कैसे होता; कलकत्ता के भद्र समाज में मि० अधिकारी को परिचित कराने का भार उन्हीं पर पड़ा था। श्रीगिरीश ने एक बार अन्तिम चेष्टा करने के लिये चित्रा को भेजा। दस मिनट बाद चित्रा लौट आई 'मिस् गोस्वामी अत्यन्त अस्वस्थ हैं, मुलाकात नहीं हो सकती।' अशोका टूसी के पास बैठी थी। थोड़ी देर बाद अशोका ने भी आकर यही कथन दुहराया। श्रीमती गोस्वामी इधर नहीं आईं, वे कभी नहीं आतीं थी। श्रीगिरीश अत्यन्त क्रुद्ध होकर देवश्री को देखने स्वयं ही ऊपर दौड़े। सभी एकत्र आगन्तुक व्यक्ति मि० गोस्वामी की अस्वस्थता के लिये अत्यन्त उद्विग्न हो उठे थे।

मि० अधिकारी म्लान मुख से बोले 'आया था उन्हींको देखने, किन्तु एक बार भी नहीं देख पाया।'

'इतनी लड़कियाँ तो हैं मि० अधिकारी, तब भी आपको दुःख होता है।' अशोका ने मज़ाक में कहा।

'अदृश्य वस्तु के प्रति सभी का बहुत आकर्षण होता है।

नहीं जानती क्या ?'—चित्रा ने कहा। संगमर्मर के घाट पर बैठे-बैठे इन लोगों का अनेक प्रकार का हँसी-मजाक चल रहा था। वे सब लोग चाय पीकर जायेंगे। सभी ने दिन भर की इस पिकनिक को खूब पसन्द किया था। चित्रा की वाक्पटुता, मार्जित व्यवहार और यूरोप जैसी मिलने-जुलने की आदत ने मि० अधिकारी को मुग्ध कर लिया था। अशोका प्रायः चुप ही बैठी थी; बीच में कभी-कभी अजय उसके साथ बोल लेता था। इसके पीछे चित्रा का संकेत था, अशोका को इतनी बुद्धि थी।

'मिस लाहिड़ी, जान पड़ता है आपको पार्टी अच्छी नहीं लगी। क्या इसीलिये कुछ सुस्त सी हैं ?'

'हाँ, बहुत कम, दिन भर कविता आदि लिखने में ही लगी रहती थी न इसीलिये।'—अशोका ने उत्तर दिया।

'दिन में एक भी कविता न लिख पाने पर आपको इतना कष्ट होता है मिस लाहिड़ी ?'

'हाँ, जान पड़ता है जैसे जीवन के एक दिन को मृत्यु में बिता दिया।'

मि० अधिकारी ने हँसकर कहा, 'जिस दिन रचना कर सकीं वह दिन मानों सार्थक 'जीवन' में बिताया !'

'हाँ, कवि के लिये इससे बड़ी सार्थकता नहीं—किन्तु यह सब बातें आप लोग नहीं समझेंगे। दूसरी बातें करिए।'

'नहीं समझने की क्या बात है मिस लाहिड़ी ? कविता न भी रचें, हम लोग, पढ़ते तो हैं ?' अजय ने हँसकर अपना अधिकार जताया।

अजय की इस बात पर अशोका विस्मित हो उठी।

'आप पढ़ते हैं ? श्रद्धा के साथ ? या किसी के प्रेम के लिये ?'

'जिसके लिये भी हो, पढ़ता हूँ; किन्तु आप तो 'अस्त्रा-

माडर्न' कवि हैं। आपकी रचनायें पढ़ी हैं मैंने।' अजय ने कहा।

'नहीं मैं अब प्राचीन-पन्थी हूँ। कविता में 'अल्ट्रा-माडर्न' नाम की कोई चीज नहीं, सुन्दर वस्तु सुन्दर है, थी और वैसी ही सदा रहेगी—मन की अनुभूति द्वारा उसे छन्दोबद्ध करने की शैली में कुछ आधुनिकता भले ही आ जाय, इससे अधिक नहीं!'

उसकी बातें सुनकर सभी चुप रह गये। चित्रा तो परिवेषण में व्यस्त थी। श्रीगिरीश दूसरी मंजिल में दूसी के कमरे में जा चुके थे। श्रीमती गोस्वामी वहाँ नहीं थीं, शायद कहीं चली गई थीं। कमरे के बाहर खुले बरामदे में दूसी गंगा की ओर मुँह किए खड़ी थी। उसके दोनों नेत्रों से दर्-दर् आँसू बह रहे थे। पीछे से श्रीगिरीश ने कन्या का मुखांश देखा। दूसी जैसे बेहोश थी। इस एक-निष्ठ प्रेम ने श्रीगिरीश के हृदय को एक क्षण के लिये विचलित कर दिया। क्या उनकी मान मर्यादा चली जाएगी? चली जाय किंतु एकमात्र कन्या को वह इतना कष्ट नहीं दे सकते। जो लड़की सुदीर्घ सात महीनों में एक बार भी अपने प्रियतम की याद नहीं भूल सकी, वह क्या किसी दिन भूल सकेगी? कुछ देर सर गिरीश यही सोचते रहे किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने मनको वश में कर, पुकारा, 'देवश्री!'

दूसी चौंक उठी। फिरकर पिता की ओर देखा। आँसुओं से उसकी दृष्टि धुँधली पड़ रही थी। उसने हाथों से आँसू पोंछ डाले। श्रीगिरीश ने कोमल कण्ठ से पुकारा, 'एक बार चलो बेटी, एक बार केवल दस मिनट ही बैठकर चली आना, नहीं तो मेरा सम्मान नहीं रहेगा बेटी।'

'जाने से मेरा भी सम्मान नहीं रहेगा पिताजी, मुझसे ऐसी स्थिति बन जायगी, जिससे आपका सारा सम्मान नष्ट हो जायगा।'

क्षण भर में श्रीगिरीश का स्नेहमय हृदय कठोर हो उठा।

'चल, तुझे जाना ही पड़ेगा।' कहकर वे दूसी को खींचते-खींचते सीढ़ी तक ले आये।

'पिताजी, अब भी छोड़ दीजिए नहीं तो इस घाट से गंगा जी अधिक दूर नहीं हैं, मैं डूब मरूँगी!'

श्रीगिरीश ने डरकर दूसी का हाथ छोड़ दिया। श्रीमती गोस्वामी आते ही क्रुद्ध होकर बोली, 'तुम्हें शर्म आनी चाहिए, मार डालोगे क्या लड़की को ?'

'तुम्हीं ने इसे बिगाड़ दिया है गौरी ? अच्छा मैं देख लूँगा।' कहकर श्रीगिरीश जा ही रहे थे कि चित्रा और अशोका आ खड़ी हुईं। दूसी 'अशोका दीदी' कहकर रो पड़ी। अशोका ने उसे खींचकर हृदय से लगा लिया और बोली, 'एक-निष्ठ पति-प्रेम में जो मग्न है, उसे इस तरह क्यों कष्ट दे रहे हैं मि० गोस्वामी ? छोड़ दीजिए उसे।'

रुष्ट स्वर में गिरीश बोले, 'आपसे उपदेश नहीं चाहता मिस् लाहिड़ी, एक-निष्ठता की भी सीमा है एक सत्पात्र भी तो हो, मर्यादा-ज्ञान भी तो हो।'

चित्रा ने सोचा, अशोका ने यदि पार्थ के विषय में सर गोस्वामी को बता दिया तो उसका सारा किया-कराया खतम हो जायगा। जल्दी से बोली 'रहने दीजिए नहीं जाती तो, मिस्टर गोस्वामी आप चलिए।'

श्रीगिरीश की मनोदशा अवर्णनीय हो रही थी। वह चिल्ला करके बोले, 'मैं तुझे कभी पार्थ के पास-उस जघन्य गन्दी बस्ती में नहीं जाने दूँगा—देखूँ, तू कितने दिन रहेगी ऐसे, अविवाहिता कन्या के ऊपर पिता का अधिकार हमेशा रहता है।'

'मैं भी कभी आपके समान अधार्मिक और दूसरों की कृपा-

कांची उपाधि-लोभी को 'पिता' नहीं मानूँगी; तुम्हें पिता कहने में मुझे शर्म आती है।'

टूसी उत्तेजना से हाँफ उठी; अशोका ने उसे पकड़कर बिस्तरे पर सुला दिया। चित्रा श्रीगिरीश को लेकर नीचे चली गई। अशोका भी टूसी को श्रीमती गोस्वामी को सौंपकर बाग में लौट आयी।

अशोका ने आते ही कहा, 'मुझे आपको उपदेश देने की स्पर्धा नहीं है मिस्टर गोस्वामी, मैं यहाँ अतिथि होकर भी अपमानित हुई हूँ; अधिक कष्ट नहीं देना चाहती—जा रही हूँ नमस्कार।' अशोका ने गाड़ी में बैठकर स्टार्ट कर दिया। अजय ने पुकार कर कहा, 'मैं भी आपके साथ चल रहा हूँ मिस लाहिड़ी।'

'आप इसी जगह अच्छे लग रहे हैं।'—कहकर अशोका बाहर निकल गई। श्रीगिरीश आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने ऐसा क्या कह दिया इस लड़की से जो इतना क्रोध दिखाया। ओफ् कितनी 'सेन्सिटिव' हैं आजकल की लड़कियाँ!

अजय ने भी इतने लोगों के सामने यह जवाब पाकर अपने को असम्मानित—सा समझा। वह भी अपनी गाड़ी में चला गया। चित्रा मि० अधिकारी को लेकर बाग के दूसरी ओर घूमने चली गई। और सब भी जा चुके थे। सर गिरीश ने देखा कि वे ही केवल अकेले खड़े थे वहाँ।

२८

पार्थ की माँ की दशा संकट-मयी थी। सारी रात पार्थ माँ के सिरहाने और पैरों की ओर मालती बैठी थी। प्रवीर, प्रसून शैवाल, सिप्रा, अशोका, इन्द्राणी आदि सभी पास ही बैठे थे। माँ बोल नहीं पा रही थीं। धीरे-धीरे रात बीत गई। एक गाड़ी

द्वार पर आ खड़ी हुई। सिप्रा ने दरवाजा खोल दिया। एक असाधारण महिला ने प्रवेश किया मानों प्रत्यक्ष मातृ-मूर्ति हो। सिप्रा ने प्रणाम करके कहा, 'निश्चय ही आप काकी माँ है।'

'हाँ बेटी'—कहकर जल्दी से वे कमरे के अन्दर चली आयीं और चुप-चाप माँ के पास जा बैठीं। उनकी माँग में बाल-सूर्य की भाँति सिन्दूर जगमगा रहा था और पाँवों में जवा-कुसुम का रङ्ग झलक रहा था। किसी ने नहीं पूछा वे कौन हैं। सभी इस महिमा मयी नारी को देख रहे थे। पार्थ एक बार आँखे उठाकर देखता ही रह गया। सभी चुप थे।

सूर्योदय हुए देर हो गई थी। प्रायः सात बजे होंगे। माँ ने धीरे-धीरे आँखें खोली। पार्थ की ओर देखकर कहा, 'दूसी को .....नहीं—और नहीं—देख पाई बेटा पार्थ।'

पार्थ उसी समय उठकर प्रसून की गाड़ी लेकर बाहर चला गया। पार्थ के रहते माँ की इच्छा पूर्ण नहीं होती क्या? चेष्टा की उसने!

गाड़ी अपने पूरी रफ्तार में जाकर श्रीगिरीश के भवन सामने रुक गई। पार्थ ने नीचे से गाड़ी में बैठे ही बैठे पुकारा, "सर" गोस्वामी हैं?'

बरामदे में से मुख उठाकर मि० गोस्वामी ने देखा तो वे विस्मित हो गये। बड़े कड़े स्वर से बोले,'क्यों आये हो तुम यहाँ?'

हाथ जोड़कर पार्थ ने कहा, 'मेरी माँ की हालत अत्यन्त संकट मयी है "सर" गोस्वामी, वे दूसी को एक बार....'

—'देवश्री' कहो—

'अच्छा; देवश्री को लेकर यदि आप एक बार....'

'मैं आऊँगा तुम्हारी उस बस्ती में तुम्हारी इतनी हिम्मत।...'

'तो किसी उपयुक्त व्यक्ति के साथ भेज दें—मेरी माँ....'

पार्थ का कण्ठस्वर रोने के स्वर से टूटा जाता था। सर गोस्वामी कठोर-स्वर से बोले, 'नहीं, यह भी नहीं हो सकता, मेरी लड़की तुम्हारे घर किसी तरह भी नहीं जा सकती—जाओ।'

'सर गोस्वामी, मेरी माँ ने उसे चौदह वर्ष तक बेटी के समान पाला-पोसा है।'

'बड़ा उपकार किया। मेरा सर्वनाश कर दिया तुम्हारी माँ ने और तुमने—समझे? चले जाओ यहाँ से, नहीं तो दरवान से कहकर निकलवा दूँगा।'

प्रसून की कार का एञ्जिन चल रहा था।—किन्तु, किन्तु माँ की इच्छा पूर्ण नहीं हुई। नहीं! पार्थ ने चिल्लाकर कहा, 'टूसी, टूसी कहाँ है तू—माँ तुझे एक बार—'

'आई'—कहकर दौड़ते-दौड़ते टूसी आगई। पार्थ ने उसी क्षण उसे अपने पास बिठा कर गाड़ी छोड़ दी। सर गिरीश चिल्लाते रहे—पकड़ो डाकू को, पकड़ो! दरबानों ने—पुकारा—पकड़ो—पकड़ो—किन्तु गाड़ी तब तक बाहर चली गई थी।

क्रोध से तिलमिला गये सर गिरीश। उन्हीं की लड़की को उन्हीं के मकान से एक बस्ती का आदमी जबर्दस्ती लेकर चला गया, अच्छा। उसी क्षण उन्होंने पुलिस को फोन किया और मकान दिखाने के लिये स्वयं चल पड़े।

टूसी को लेकर पार्थ तीर की तरह आ पहुँचा। माँ को प्रायः होश न था टूसी आकर उनके मुख पर झुक पड़ी। माँ ने किसी प्रकार आँखें खोल कर एक बार ताका उनके चेहरे पर मृत्यु-मलिन हँसी फूट उठी आज—सुदीर्घ आठ मास बाद। टूसी ने उन्हें जल दिया। पार्थ के शरीर पर दायाँ हाथ और टूसी के शरीर पर बाँया हाथ रखकर उन्होंने आँखे बन्द कर लीं। कुछ क्षण बाद ही पार्थ की उपास्या देवी का अन्तिम श्वास अनन्त में लीन हो गया।

दूसी ने माँ के दोनों पैर छाती पर रखकर, रो उठी—'माँ—ओ मेरी माँ !'

पन्द्रह बीस मिनट भी नहीं बीते होंगे, समस्त घर जैसे धम-धम करता था—बिलकुल शब्द-हीन। द्वार पर आहट हुई; प्रसून ने दरवाजा खोल दिया। श्री गिरीश तीन पुलिस के सिपाहियों को लेकर अन्दर आये, उनके मुख पर पैशाचिक कठोरता थी।

'पार्थ बाबू किसका नाम है ?' प्रश्न सुनाई पड़ा।

माँ की मृत्यु शय्या छोड़कर पार्थ धीरे-धीरे गम्भीर पद-ध्वनि से बाहर आ गया। पुलिस—आफिसर ने श्रीगिरीश का वर्णन सुनकर समझा था कि वे किसी डाकू को पकड़ने जा रहे थे, किन्तु पार्थ को देखकर वे विस्मित हो गये। समाचार-पत्रों में उसने कई बार जिस व्यक्ति का चित्र देखा था यह तो वही महानुभाव थे। उन्होंने आश्चर्य के साथ पूछा, 'आप आपके विरुद्ध कन्या-हरण का अपराध।'

'हाँ—मैं अपराध स्वीकार करता हूँ किन्तु माँ के अन्तिम संस्कार के लिये मुझे कुछ समय देना पड़ेगा—क्या करना है उसके लिये।'

'उसके लिये जमानत देनी होगी—किसी भी वकील के द्वारा करा दीजिए।'

उन लोगों का कोई भी मित्र वकील नहीं था। प्रसून आगे बढ़कर बोला—मैं जमानत देता हूँ। सिप्रा ने कहा मैं जामिन बनती हूँ। अशोका चुप रही। पार्थ ने कहा—तुम लोग कोई भी जामिन नहीं हो सकते, प्रसून तू अभी पिताश्रित है और सिप्रा देवी अभी अविवाहिता हैं, तुम लोगों से रुपया भी नहीं ले सकता मैं—जाओ ! कौन होगा तो जामिन, कोई नहीं है मेरा आज।

'मैं हूँ बेटा—मैं होती हूँ जमानती', कहकर काकी-माँ आ खड़ी

हुईं। उनके हाथों में नोट भरे थे। इस सम्मानित नारी को देख कर पुलिस आफिसर रुक गया—बोला, 'आप क्यों आती हैं बाहर माँ? आप भीतर जाइये—मैं अभी सब व्यवस्था किए देता हूँ।' काकी-माँ प्रवीर के हाथ में नोट देकर बोली, 'जाओ बेटा, चाहे जिस वकील को नकद रुपया देकर जमानत दिला देना।'

सिपाहियों के साथ पार्थ और प्रवीर बाहर चले गये। प्रसून महामानव-संघ के सब सदस्यों को सूचित करने दौड़ा। श्री गरीश पुलिस आफिसर से बोले, 'मैं इस नरक-कुण्ड में ज्यादा देर नहीं ठहर सकता, मेरी लड़की को बुला दीजिये।' कहकर वे स्वयं ही टूसी को हाथ पकड़कर खींचने लगे। टूसी माँ के पैरों पर अर्द्ध-मूर्छित अवस्था में पड़ी थी।

काकी-माँ गर्जकर बोलीं, 'खबरदार। इस पवित्र मृत-देह को यदि स्पर्श भी किया तो आपने, दस लाख रुपये का हर्जाने का दावा कर दूँगी, मैं भी आपको जेल भेज कर मानूँगी। बुला ले जाइये अपनी लड़की को, यदि ले जा सकें तो।'

उनकी रुद्र-मूर्ति को देखकर श्री गिरीश डरकर हट गये। आफिसर ने कहा, 'ठहर जाइये—श्री गोस्वामी—घर में न रुकिये तो अपनी गाड़ी में जाकर बैठ जाइए। इतनी जल्दी करने से कुछ नहीं होगा।' श्रीगिरीश अत्यन्त रुष्ट हो उठे, किन्तु पुलिस को नाराज नहीं कर सकते थे। वे चुपचाप गाड़ी में आ बैठे। देखा कि टोली की टोली युवक-गण एकत्र होने लगे। सिर पर चन्दन की लकड़ियों के गट्ठर, ढेर के ढेर फूल और खीलें थीं और हाथ में झाँझ और न जाने क्या क्या?

पार्थ लौट आया जमानत मंजूर हो गई थी। थोड़ी देर बाद ही पार्थ की चिराराध्या जननी के शरीर ने पुत्र के अगणित

साथियों की समवेत हरि-ध्वनि के साथ श्मशान की ओर महा-यात्रा की।

क्या समारोह था। मृत्यु उत्सव भी इतनी महनीयता के साथ सम्पन्न हो सकता है, यह गिरीश की धारणा से बाहर की चीज थी। सर गिरीश की आँखें फटी जा रही थीं। वे और रुक नहीं सके। वे अन्दर आये, अर्द्ध-मूर्च्छिता दूसी को पुलिस आफिसर द्वारा गाड़ी में बिठवा कर घर लौट गए।

२९

मृतक-श्राद्धादि समाप्त हो गया। अब मुकदमें की पैरवी थी। सुबह से ही पार्थ माँ की मृत्यु-शय्या के स्थान पर सोया हुआ था कई दिन से वह दिन रात यहीं रहता था। पार्थ बहुत सी बातें सोच रहा था, बचपन में ही वह पिता को खो बैठा, उसकी माँ ने उसे पिता का कठोर शासन और माँ की ममता के साथ पाला-पोसा। पार्थ के अत्यन्त प्राचीन वंश का अन्तिम वंश-धर पार्थ ही था। एकाकी पार्थ की कैशोर-सङ्गिनी बनकर दूसी आ गयी।—अद्वितीय लड़की थी—वही उसकी एकमात्र साथी थी। उसे पाकर जैसे पार्थ के हाथ स्वर्ग लग गया हो। सुदीर्घ चौदह वर्षों तक के दूसी के साहचर्य की कितनी ही बातें सोचता रहा। वे उसके स्मृत्याकाश में अनगिनती नक्षत्रों के समान जगमगा रही थीं।

माँ दूसी का वियोग नहीं सह सकीं; वे चली गईं, किन्तु पार्थ को सहना ही पड़ा। उसको अनेक कार्य करने थे अभी। उसकी दूसी भी तो खो गई थी।

प्रसून ने आकर करुण-कण्ठ से पुकारा, 'पार्थदा।'

पार्थ ने जिज्ञासु दृष्टि से उसकी ओर ताककर बोला, 'क्या है?'

'तुम्हे हम जेल नहीं जाने देंगे पार्थदा, हम लोग वकील करेंगे।'

पार्थ ने हँसकर कहा, 'कानून को धोखा क्यों दूँ भाई! सत्य तो स्व-प्रकाश है; मैं वकील का क्या करूँगा?'

'जेल जाओगे!' प्रसून रुँधे गले से काँपता हुआ बोला, 'रोता क्यों है रे; सत्य को छुपाकर तो 'सत्यार्थी' मनुष्य नहीं बना जा सकता भाई। स्नेह के लिए कर्तव्य को भूल जाऊँगा क्या?'

निरुत्तर प्रसून चुप रह गया। अदालत में आकर पार्थ ने साफ-साफ कह दिया कि, 'वह सर गिरीश की कानूनी अभिभावकता के अधिकार से उनकी कन्या को उनकी बिना अनुमति ले आया था।' अदालत ने पार्थ को छै मास का सश्रम कारावास का दण्ड दिया। श्रीगिरीश खुशी से फूल कर घर की ओर दौड़े।

टूसी के कमरे से लगे बरामदे में श्रीमती गोस्वामी और चित्रा चुपचाप खड़े थे। किसी के मुँह से बात नहीं निकलती थी। चित्रा मि० अधिकारी के पत्र से जान चुकी थी कि मि० अधिकारी के पिता ने मि० अधिकारी के निर्वाचन को पसन्द कर लिया है। आज चित्रा खुशी से फूली नहीं समा रही थी। किन्तु पार्थ को क्या दण्ड मिला, उसे यह भी जानना तो जरूरी था। शायद वह छूट गया था! उसने ऐसा अपराध ही क्या किया है जो उसे जेल भुगतनी पड़ेगी। बहुत ज्यादा जुर्माना हो जायगा कुछ! चित्रा यही सोचती आई थी अभी तक!'

श्रीगिरीश ऊपर आ गये। सीढ़ी के पास से ही हँसते हुए बोले, 'बेटा छै मास को गया—सश्रम कारावास समझी!...'

चौंक पड़ी श्रीमती गोस्वामी; चित्रा ने निःशब्द होकर मुँह नीचा कर लिया। श्रीगिरीश बड़ी शान से बोले, 'मेरे साथ चालाकी? अब मजा आयेगा बेटे को! पीसे अब चक्की!'

सहसा किसी के गिर पड़ने का शब्द हुआ।

'क्या हुआ!' कहकर श्रीमती गोस्वामी टूसी के कमरे की

ओर दौड़ी। चित्रा और गिरीश पीछे थे। टूसी दरवाजे के पास बेहोश पड़ी थी।

'फिट् आ गया क्या ? जल दो, जल—ऐसी कुछ बात नहीं है।' श्रीमती गिरीश ने आँसू भरी आँखों से एक बार पति की ओर ताका और पुत्री को गोद में खींच लिया। चित्रा चुपचाप खड़ी रही, दासी ने जलपान दिया लाकर।

'डर क्या है ? लड़कियों का स्वभाव है फिट् आना तो, मैं डाक्टर बुलाता हूँ, जाना बेटी चित्रा, जल्दी डा० सरकार को फोन कर देना तो।'

चित्रा हठात् न जाने क्यों टेढ़ी होकर बैठ गई और बोली, 'मैं नहीं जा सकूँगी।'

आश्चर्य में आकर श्रीगिरीश ने कहा, 'क्यों एक बार फोन भी नहीं कर सकती क्या ?'

'नहीं—जिसके मुख को कभी किसी पर-पुरुष ने नहीं देखा, उसके लिये मैं आज एक पुरुष डाक्टर को नहीं बुला सकती।'

श्रीगिरीश को क्रोध हो आया। मि० अधिकारी के साथ विवाह होगा इसलिये घमण्ड हो गया है इस लड़की को। वे बोले, 'मेरे मुँह पर यह जवाब देने की तुमको हिम्मत तो हुई !'

'हाँ हुई; क्यों हुई वह, यदि टूसी अच्छी हो गई तो कहूँगी एक दिन। आज केवल इतना कहे जाती हूँ कि जन्म से लेकर आज तक मैंने आपके समान महा-मूर्ख दूसरा नहीं देखा।' चित्रा उसी क्षण घर छोड़कर चली गई।

सर गिरीश को 'महामूर्ख' कहा जाय ! इतनी बड़ी स्पर्धा ! हाँ—मूर्ख, महा-मूर्ख ही""तो थे""मि० अधिकारी के साथ मिलने का सुअवसर वे क्यों देते चित्रा को ? भला वे उसका परिचय अपनी सगी कहकर देते ? मूर्ख—निश्चय ही वे महामूर्ख हैं !

श्री० गोस्वामी तिलमिला उठे।

श्रीमती गोस्वामी चिल्लाकर रो उठीं—'तुझे पालकर तेरे शोक में मर गई वह, दूसी री, ओ बिटिया मेरी. मैं—तेरी 'माँ' तो शायद मर भी न सकती।

श्री० गिरीश नाराज होकर बोले, 'चुप करो, अभी मैं डाक्टर बुलाए देता हूँ। लेडी डाक्टर ही बुलवाए देता हूँ—किसी को भेजकर, अभी ठीक हो जायगी।'

३०

चित्रा नीचे आकर अपनी गाड़ी में बैठ गई; वह घर नहीं गई। क्या हो गया था उसे! वह ठीक समझ नहीं पा रही थी। उसने गाड़ी मैदान की ओर चला दी। मानों उसके मन के महासागर में इतने दिन तक जो एक ज्वालामुखी सोया पड़ा था आज फूटकर आग उगलने लगा हो। अब तक चित्रा के हृदय में आँधी से जो तरंगें उठती थीं, वे शीतल थीं, और आज इस ज्वालामुखी के उत्ताप से उसके हृदय की जलराशि डग-बग डग-बग कर उबलने लगी थी। बाहर से कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था, किन्तु अन्दर ही अन्दर असहनीय उत्ताप था। चित्रा आज कहाँ जाय, वह कुछ सोच नहीं पा रही थी।

इतने सुन्दर दो जीवन उसने किसलिये नष्ट किये? पार्थ ने उसकी कोई हानि तो नहीं की; अन्तिम दिन तक पार्थ चित्रा का यथेष्ट सम्मान करता रहा। 'श्री०' ओंकारनाथ के पुत्र को पाना न पाना चित्रा की अपने भाग्य की बात थी। पार्थ ने तो कभी उसके मार्ग में बाधा नहीं डाली।

किन्तु यह सब क्यों सोचे चित्रा! वह श्री० ओंकारनाथ की भावी पुत्र-वधू थी; विलायत से लौटे हुए सुशिक्षित सुसंस्कृत, बैरिस्टर मि० हिमाद्रि अधिकारी ने उसे पसन्द किया था। वही

हिमाद्रि, जो संस्कार और संस्कृति को इतनी सरलता से भूल सके थे और जो मातृ-भाषा को शीघ्र ही भूलना चाहते थे, चित्रा उन्हीं की पत्नी होनेवाली थी। आनन्दित होने की बात थी, किन्तु चित्रा प्रसन्न न थी। पार्थ के जेल जाने के समाचार से ?—इतनी आग कहाँ छिपी थी—कहाँ थी इतनी आग ?

किन्तु पार्थ को जेल भेजने की इच्छा भी तो नहीं थी उसकी! यह क्या हो गया! इस प्रकार पार्थ का सर्वनाश क्यों किया उसने—क्या मिला इसमें उसे। चित्रा मन-ही-मन यह सब सोचती चली जा रही थी। गाड़ी इधर-उधर दौड़ती रही।

पहले नहीं तो उस दिन भी यदि चित्रा श्रीगिरीश से खुलासा कह देती कि पार्थ के समान सत्पात्र वे सारे भारत में खोजने पर भी न पा सकते तो शायद वे मुकदमा उठा लेते। पार्थ के चरित्र पर नारी-हरण की मिथ्या कलंक-रेखा न पड़ती। और दूसी······।

चित्रा ने यह क्या किया। ओफ······सन्ध्या हो रही थी, चित्रा ने ताककर देखा; मैदान में एक आदमी अकेला ही घूमता फिर रहा था। प्रसून था न! हाँ, वही तो! चित्रा गाड़ी को रोककर उसकी ओर दौड़ी, 'प्रसून बाबू!'

प्रसून की दोनों आँखों से अविराम आँसू गिर रहे थे, उसने मुड़कर क्रोध से रुँधे स्वर में कहा, 'चली जाइए यहाँ से, नहीं तो मैं आपका सम्मान नहीं रख सकूँगा।' प्रसून स्वयं ही जाने लगा। उन लोगों में से कोई भी चित्रा को क्षमा नहीं कर सकता; सभी पार्थ के अनुरक्त बन्धु, भाई थे।

प्रसून रास्ते में खड़ी गाड़ी में बैठकर चला गया। चित्रा कहाँ जाय अब! आज इन प्रवीर-प्रसून की क्षमा की बहुत जरूरत थी उसे! किन्तु उन लोगों में से कोई भी क्षमा नहीं कर सकते थे उसे; एक ही व्यक्ति कर सकता था—वह था पार्थ। किन्तु वह

तो अब तक—चित्रा सिहर उठी। सिप्रा के पास जाने की इच्छा हुई किन्तु उसी समय सोचा सिप्रा भी उसे भगा देगी, शायद बोले ही न! अशोका की याद आई। नहीं—असम्भव! वह और भी तेज लड़की थी। तो कहाँ जाय आज चित्रा! नीरव निर्विकार चित्त से वह व्यक्ति आज जेल चला गया? तो क्या चित्रा उसे प्यार करती थी? इतने दिन क्यों नहीं जाना चित्रा ने? क्यों नहीं सोचा उसने कि सिप्रा और अशोका के समान वह भी पार्थ से केवल 'प्रेम' करके ही सुखी हो सकती थी? प्रेम पाने से ही तृप्ति मिलती है क्या?

उसे मि० अधिकारी के प्रेम की बात याद आई। उसने अपने आपसे पूछा—'हाँ, प्रेम। जैसे इस घोड़ागाड़ी के घोड़ों को उनका मालिक या कोचमैन प्रेम करता है? वह भी इनके साथ सदा रहता है; अच्छी तरह दौड़ने पर पुचकारता है, यह भी तो स्नेह ही है। इसी कारण तुम क्या यह कहना चाहती हो कि घोड़े के मरने पर वह आदमी खायगा नहीं? ऐसा स्नेह तो वह पागल पार्थ ही कर सकता है। वह टूसी के लिये अनायास ही मर सकता है। मरने ही तो गया है–टूसी भी गई, पार्थ भी गया! किन्तु क्या अब उसे अपना दिमाग ठीक नहीं करना चाहिए–नहीं तो···उसके विचार बड़े भावुक हुए जा रहे हैं!' चित्रा उठ खड़ी हुई। उसने सोचा, 'वह एक बार सिप्रा के पास, जो भी हो भाग्य में, वह जायगी ही।' चित्रा गाड़ी में जा बैठी।

एक दासी ने दिखा दिया—अन्धकारपूर्ण घर में सिप्रा सो रही थी; बीमार-सी। चित्रा ने पुकारा, 'सिप्रा!'

उसने फिर एक बार जोर से पुकारा 'सिप्रा।' बिजली के स्विच् को दबाती हुई सिप्रा बोल उठी, 'आओ!'

चित्रा ने आँखें फाड़कर देखा, सिप्रा रो तो नहीं रही थी,

चुपचाप लेट रही थी; तो शायद उसे प्रसून के समान पीड़ा नहीं हो रही थी। चित्रा ने विस्मित होकर पूछा, 'लेट क्यों रही हो, शरीर तो ठीक है न !' 'ठीक, हाँ एकदम ठीक !' सिप्रा हँसी या रोई ! नहीं। क्या व्यंग किया ? चित्रा उससे क्या कहे ? क्या कहने को था उसके पास ? नहीं, चित्रा लौट जाना चाहती थी ! बोली, मैं जा रही हूँ भाई; तू मालूम पड़ती है बीमार ही।' 'तूने सबको परम स्वस्थ कर दिया है चित्रा !'

चित्रा इस प्रकार व्यंग-विद्रूप नहीं सह सकती थी ! चित्रा नीचे चली आई—गाड़ी पर आ बैठी। अब वह अशोका के पास नहीं जायगी; प्रवीर के पास भी नहीं—अब कहाँ जाय वह !

इस अद्भुत विलायती गधे के साथ विवाह करने के लिये चित्रा अब खूब अच्छी तरह तैयार होने लगी उसके मन के अनुसार ! चित्रा 'फरेफा' में डिनर खाने चल दी; 'इतना खायगी वह जिससे मर ही जाय—भगवान ही देखेंगे आज चित्रा को। भगवान् ? हाँ भगवान् ही तो !'

समस्त रात यम और मनुष्य से खींचातानी होती रही। श्री० गिरीश सारी रात किसी से नहीं बोले। टूसी के कमरे के बरामदे में वे बेंत की चप्पलें पहनकर टहलते रहे। कितनी ही बार उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों उन्होंने ही कन्या की हत्या कर दी हो, साथ ही साथ यह भी सोचा कि श्रीगिरीश की कन्या को श्रीगिरीश के समान ही बनना चाहिए। वह किसी प्रकार भी पार्थ के समान एक अत्यन्त साधारण लड़के से विवाह नहीं कर सकती, चाहे वह चौदह वर्ष उसी के घर क्यों न पली हो। वे तो पालन करने का मूल्य भी चुका रहे थे ! क्यों नहीं लिया पार्थ ने ? फिर सोचा, 'किन्तु जेल न भेजता उसे तो ठीक रहता !

छः साल की जेल का कष्ट।······आदमी भी बड़ा अजीब

है। लेकिन अपने आप ही सब स्वीकार कर लिया, एक वकील भी नहीं किया! उसमें निश्चय ही कुछ गुण तो हैं ही।'

सुबह ही लेडी डाक्टर ने सर गिरीश को बताया, 'रोगी का हृदय अत्यन्त दुर्बल हो गया है। बहुत दिनों की दुश्चिन्ता और पर्याप्त आहार न खाने से शरीर बहुत ही क्षीण हो गया है। गिरने से माथे में जोर का आघात लगा है। सामान्य उत्तेजना से ही सांघातिक हो सकता है, खूब सावधान रहना चाहिए इस समय!'

बहुत देर हो चुकी थी, एक कप चाय न पीने से श्रीगिरीश अब हिल भी नहीं सकते थे। बेयरा चाय ले आया। चाय पीते-पीते सर गिरीश सोचने लगे—'लड़की यदि न बचे तो! सर गिरीश आतंकित हो उठे। उनकी एकमात्र कन्या थी वह! न बची तो सर गिरीश कहाँ खड़े होंगे? किन्तु कैसे न बचेगी वह। उसे पार्थ से इतना प्रेम नहीं करना था! अनेक लड़कियाँ देखी हैं सर गिरीश ने; लेकिन यह तो मानों एक निराली लड़की है।' वे भूल गये कि वे खुद ही कम 'निराले' नहीं हैं?

इसी समय कार से प्रवीर और प्रसून आकर वहीं उतर पड़े।

'क्या चाहिए आप लोगों को, किसे खोज रहे हैं आप?'

'आपकी कन्या को एक खबर देना चाहते हैं हम पार्थ के बन्धु हैं।'

'उस 'गुण्डा' के मित्र बनकर आने और परिचय देने में शर्म नहीं आती आपको।'

प्रसून ने घुड़ककर कहा, 'चुप रहिए महाशय—बहुत से 'सर' देखे हैं हमने!'

प्रवीर ने उसे रोककर सर गिरीश से विनीत स्वर में कहा, 'आप ही बता दीजिएगा यह खबर उन्हें—वे सुनकर बहुत खुश होंगी।' अँग्रेजी 'अलकनन्दा' के लिये पार्थ को विदेश में एक

उच्च पारितोषिकपूर्ण सम्मान-पत्र दिया गया है; आपकी पुत्री ने ही वह पुस्तक वहाँ भेजी थी—उन्हें यह टेलीग्राम दे दीजिएगा—लीजिए ! सर गिरीश निरुत्तर हो गये; तार भी नहीं ले सके वे ।

प्रवीर ने कहा, 'लीजिए महाशय, हमें बहुत काम करने हैं ।'

श्रीगिरीश फिर भी चुप खड़े रहे । प्रसून ने बिगड़ कर कहा, क्यों बात कर रहे हो तुम इसके साथ प्रवीर-दा—चले आओ ।'

प्रसून-प्रवीर टेलीग्राम सर गिरीश के शरीर पर फेंककर गाड़ी में आ बैठे । गाड़ी बाहर चली गई ।

सर गिरीश ने होश में आकर इतनी देर बाद तार पढ़ा । संसार के श्रेष्ठ विचारकों को जो पुरस्कार दिया जाता है वही पुरस्कार पाया है इस गुण्डा पार्थ ने ! श्रीगिरीश जगे थे या सो रहे थे ? नहीं जगे ही तो हैं, तो फिर यह खबर सच थी । सचमुच पार्थ क्या इतना बड़ा था । श्रीगिरीश से वह बहुत बड़ा था क्या ?

श्रीगिरीश ने फिर सोचा; किन्तु 'देवश्री' को यह खबर कैसे दी जाय डाक्टर ने कहा है कि थोड़ी-सी उत्तेजना होने से ही संकट बढ़ जायगा । नहीं—नहीं—नहीं—उसे बचाना ही पड़ेगा किन्तु कैसे बतायें श्रीगिरीश देवश्री को—नहीं...'टूसी' को—'टूसी' नाम ही अच्छा है; पार्थ की माँ का दिया हुआ नाम 'टूसी' है । वे आज टूसी के सामने कैसे खड़े हों जाकर ।'

श्रीगिरीश का माथा पसीने से तर हो उठा । वे अपने कमरे की कुर्सी पर बैठे रह गये ।

गम्भीर निस्तब्ध रात्रि थी । चुपचाप श्रीगिरीश बरामदे में आ खड़े हुए; कोमल कण्ठ से बोले, 'कैसी है अब ?'

टूसी की शय्या छोड़कर गौरी देवी बाहर आकर स्वामी के शरीर पर हाथ रखकर बोलीं, 'तुम चिन्ता मत करो—वह अच्छी हो जायगी—होगी ही अच्छी—नहीं तो हम लोग कहाँ जायेंगे ।'

आँसुओं के आवेग में उनकी बाकी बात रह गई। कठिन—हृदय श्रीगिरीश ने पत्नी की ओर देखा। वे रो नहीं पा रहे थे। वे रोने को दुर्बलता मानते थे। किन्तु आज यदि गौरी देवी के समान वे भी थोड़ा रो पाते!

नर्स टूसी के मुख पर झुक पड़ी। निस्तब्ध कमरा, एक घड़ी भी नहीं थी जिससे कुछ शब्द हो। बाहर की मन्द हवा में एक कैलेण्डर के पन्ने उलटे जा रहे थे, श्रीमती गिरीश ने उसे उठाकर फेंक दिया। टूसी शायद अब आँखें खोलेगी, शायद उसकी बेहोशी दूर होगी!

'माँ—माँ' टूसी ने पुकारा श्रीमती गोस्वामी दौड़कर आईं उसके सामने 'यह रही बेटी मैं।'

'नहीं—तुम कौन हो—तुम तो······नहीं···माँ कहाँ हैं?'

टूसी इन कई मासों के बन्दिनी जीवन को भूल ही गई थी। उसका अचेतन मन आज अपनी पालिका माँ की गोद में जाने को सचेत हो उठा। उसके मन में जननी माँ की अस्पष्ट छाया भी नहीं थी। श्रीमती गिरीश सब कुछ समझ गईं। सर गिरीश भी सब कुछ समझ गये—मनुष्य के हाथ में भला कितनी शक्ति है। धन और कुलीनता इस काम में सदा हार मानते आये हैं!

'उसे बुला दो माँ, मैं अमरूद खाऊँगी—।' टूसी दीवाल की ओर ताक-ताक कर उलटा-सीधा बके जा रही है। सर गिरीश श्वास रोके हुए देखते रहे टूसी अपने मन में बोलती चली जा रही थी;—'नहीं—नहीं, मैं औषध नहीं खाऊँगी, जा—ओ माँ से कह दूँगी शरारती कहीं के।'

श्रीमती गिरीश टूसी के माथे पर हाथ रखकर पुकारने लगीं, टूसी, बेटी।' टूसी ने ताका—चौंक पड़ी वह चिल्लाकर बोली, माँ, राक्षसी आ रही है।

वेदना से लेडी गिरीश का चेहरा उतर गया। आज कहाँ है टूसी का वह स्नेहमयी माँ, जिसे वह मृत्युशय्या पर बुला रही है। क्या वे एक क्षण को भी नहीं आ सकतीं ? उनकी स्नेह-पात्र कन्या आज...अधिक नहीं सोच सकीं गौरी देवी। चेतना ने उनका जैसे साथ ही छोड़ दिया था।

माँ री...ये बड़ी दुष्टता करते हैं मेरे पैर छू रहे हैं...देखो।—टूसी मृदु मधुर हँसी हँसने लगी।

यही था उनका स्वाभाविक जीवन। इतना सुन्दर...इतना पवित्र ! मृत्यु से पहले टूसी ने सर और लेडी गोस्वामी को बता दिया कि वह उस बस्ती में कितनी सुखी थी।

श्रीगोस्वामी डाक्टर को बुलाने दौड़े। अधिक देर तक इस प्रकार का डिलीरियम रहना ठीक नहीं था ! सर गोस्वामी दूसरे कमरे में फोन करने चले गये।

डाक्टर अभी आ रही थीं ! उस विशाल भवन के निर्जन निस्तब्ध कमरे में खड़े-खड़े सर गिरीश गत कई महीनों की घटनाएँ—आद्योपान्त—अनेक बार दुहरा कर सोचते किन्तु उनकी सारी चिंताएँ उलट-पलट हो रही थीं। टूसी के मरणासन्न, विवर्ण मुख की मधुर हँसी का दृश्य उनके समस्त मन को बार-बार आच्छन्न किए दे रहा था। मौत के सामने आकर भी टूसी अपने प्रियतम के सान्निध्य के लिए इतनी व्याकुल थी। इस पवित्र जीवन-पुष्प की सर गिरीश ने हत्या कर डाली ! नहीं टूसी की मृत्यु सर गिरीश सह नहीं सकेंगे। डाक्टर साहब यदि टूसी की जिन्दगी के बारे में ढाढस न बँधा सके तो ? तो क्या टूसी के जीवन-दीप-निर्वाण से पहले ही सर गिरीश आत्महत्या कर लेंगे। सर गिरीश गोस्वामी बहुत ज्यादा चिन्ताकुल हो उठे।

डाक्टर की पदध्वनि सुनाई पड़ने लगी।—